जैनेन्द्र की कहानियाँ

जैनेन्द्र-साहित्य [१५]

जैनेन्द्र-साहित्य [१५]

Jainander Kee Kahanya

जैनेन्द्र की कहानियाँ

[चतुर्थ भाग]

['भाभी', 'घुँघरू', 'ब्याह', 'दृष्टिदोष'
और अन्य कहानियाँ]

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

No: 18005
Vol. IV
Rs 3-8-0

प्रथम संस्करण
१९५३

मूल्य
साढ़े तीन रुपए

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज, दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार
द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित

प्रकाशक की ओर से

दुनिया के सभी श्रेष्ठ-साहित्यों में स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्धों के विविध सामाजिक रूपों को विशेष स्थान दिया गया है। प्रेम और विवाह की समस्या का विवेचन और विचार अनेक साहित्यकारों ने किया है, और सभी में पाठकों को कुछ-न-कुछ आकर्षण भी लगता है। किन्तु सामाजिक जीवन की इस आधारभूत समस्या के विषय में जैनेन्द्र जी का अपना मौलिक दृष्टिकोण है। स्त्री-पुरुष के प्रेम और विवाह-परक सामाजिक सम्बन्धों को वह एक उदात्त मानवीय सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं और उसके यथार्थ सत्य तक पहुँच कर जीवन के सतही सम्बन्धों के मिथ्यात्व को झकझोर देते हैं। इसीलिए 'सेक्स' की समस्याओं के प्रति भी उनका दृष्टिकोण दूसरे साहित्यकारों से भिन्न और एकदम मौलिक है।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह में प्रेम और विवाह से सम्बन्धित या स्त्री-परुष के परस्पर सामाजिक सम्बन्धों की तात्त्विक गहराई की

यथार्थता को प्रकट करने वाली श्रेष्ठ-कहानियाँ हैं। 'ब्याह', भाभी', 'मास्टर जी', निस्तार' आदि सभी कहानियाँ पाठकों को इस विषय में एक मौलिक दृष्टि ही नहीं प्रदान करतीं; बल्कि कहानी-कला के अद्वितीय उदाहरण के रूप में उनको अपनी ओर आकर्षित भी करती हैं।

क्रम

		पृष्ठ
मास्टरजी	...	१
घुँघरू	...	२६
अकेला	...	४२
समाप्ति	...	४७
रेल में	...	५५
सम्बोधन	...	६२
ग्रामोफोन का रिकार्ड	...	८४
जाह्नवी	...	६७
दृष्टि-दोष	...	१०८
विस्मृति	...	१२२
पूर्ववृत्त	...	१३७
परावर्तन	...	१५३
निस्तार	...	१६६
ब्याह	...	१७६
भाभी	...	१६६

मास्टरजी

जब से लड़के जानते हैं, स्कूल के सेकेण्ड मास्टर मोशा बाबू ही हैं। पूरा नाम है, महामहिम घोषाल। अवस्था चालीस वर्ष होगी। पक्का रंग है और बड़े विनोदी स्वभाव के जीव हैं। लड़कों को "महामोहिम" कहने में दिक्कत होती है, इससे उन्होंने छोटा नाम रखा है, मोशा बाबू।

बङ्गाला देश छोड़कर यहाँ अलीगढ़ जिले के अतरौली कस्बे में यह घोषाल महामहिम कैसे आ गये, इसकी कथा कहने में बहुत-सी उपकथाओं को छोड़ना कठिन हो जायगा। संक्षेप में यह समझ लो कि जब एफ० ए० पार हुआ, पिता ऊपर से उठ गये, आगे पढ़ाई का सुभीता न रहा, माता के बहू पाने की जल्दी मचाने से बहू घर में आ गई और बहू का मुँह देखने के बाद माता शीघ्र धराधाम से प्रयाण कर गईं। तब महामहिम ने अखबारों के कालमों से पते ले-लेकर चारों ओर दरख़्वास्तों के तीर छोड़ने शुरू किये। महीनों बाद जो तीर ठीक बैठकर फलोत्पादक हुआ, वह डाक से अलीगढ़ जिले के अतरौली कस्बे पर छोड़ा गया था। तब से

अपनी बहू के साथ महामहिम यहाँ ही बसे हैं ।

बहू का नाम है, श्यामकला । वह श्यामा उतनी नहीं है जितनी कला से सन्नद्ध । अपनी श्यामता को कला द्वारा ऐसा कुछ वह सँवारती है कि उजला रङ्ग पानी भरे । दस वर्ष की अवस्था में श्यामकला का महामहिम से परिणय हुआ और तेरह-चौदह की होगी जब देश छोड़ वह स्वामी के साथ इस अतरौली में आकर मास्टरनी जी हुई ।

पर, उसको भी दिन हो गये हैं, और अब जब महामहिम चालीस के हैं, तो कलावती श्यामा भी बीस से दो-एक वर्ष ऊपर ही है, कम नहीं । मास्टरजी ने बड़े लाड़-प्यार से उत्सुकतापूर्वक उसे बढ़ाया है । उनके सामने-सामने वह नन्ही से किशोरी, किशोरी से षोड़शी और षोड़शी से अब युवती हो गई है । महामहिम ने पति के प्रेम से भी अधिक माता के प्रेम से उसे पाला है । उसे खिलौने ला-लाकर दिये हैं और गरई मच्छी के मुण्ड तल-तल के खिलाये हैं । अपने को दुनिया में समर्थ पाया, तभी से अपने सामर्थ्य द्वार पोषणीया अपनी वधू को उसने अपने घर में पाया है । मा जब जल्दी ही ऊपर से उठ गईं, तब बाहर से गिरस्ती के योग्य सामान जुटाने और घर के भीतर भी सब-कुछ सँवारने और सँभालने का काम उस पर आ रहा है । यह अबोधा, अनजान, एक अतिरिक्त काम की ही भाँति उस पर रही है । वह सबको निबाहता चला आया है । इस निर्वाह में उसे रस का सर्वथा अभाव भी कभी नहीं प्रतीत हुआ है । कभी यदि कुछ प्रत्याशा मन में उठी है तो वह सोच लेता रहा है कि यह बरस बीतते-बीतते तो हमारी श्यामा सारी गृहस्थी अपने ऊपर ले-लेने ही वाली है । बस, कसाला कुछ ही रोज का है ।

श्यामकला भी एक-एक कला के उदय के साथ निखरती ही आई है। नन्ही से वह धीरे-धीरे करके मनमोहिनी होने लगी है। पहले खेलती थी, अब बाल काढ़ती है। वह तरह-तरह के बाल काढ़ना जानती है। वह चाहती है कि उसके स्वामी देखें कि वह अब बच्ची नहीं रह गई है। देखें कि वह कैसे भाँति-भाँति के बाल काढ़ती है, और बदल-बदलकर नये कपड़े पहनती है। महामहिम आते हैं तो कहते हैं, "ओ हो,—श्याम कलानिधि सों सोहै"—

श्यामा सुनकर नाराज हो जाती है। वह क्या सदा बहलाने की चीज है!—वह सोचती है।

महामहिम कहते हैं, "कासकली-सी जो श्यामकलीजी, कहिए।"

श्यामा अत्यन्त क्रुद्ध हो जाती है।

स्वामी कहते हैं, "क्या बात है?"

और वह रूठकर चली जाती है।

तब स्वामी देखते हैं, चूल्हा ठण्डा है, रसोई में कोई तैयारी नहीं है। उस समय वह लकड़ी-कण्डा लेकर चूल्हे को चेताने के जतन में लगते हैं। खाना बन-बना चुकता है, तब अन्दर जाकर कोठरी में चादर लिये पड़ी हुई पत्नी से कहते हैं, "चलो खाना खा लो।"

वह चादर जोरसे चिपटाकर कहती है, "हटो-हटो, मुझे भूख नहीं है।"

महामहिम कहते हैं, "मैंने मच्छी का झोल-बड़ा स्वादिष्ट बनाया है, चलो तो।"

करते-करते श्यामकला चलती हैं, भोजन करती हैं और चौके-की सार-संभाल करके महामहिम स्कूल चले जाते हैं।

किन्तु यह तो जब अतरौली आये-आये थे, तबकी कथा सम-

झनी चाहिए। अब वह बात नहीं है। अब श्यामकला बच्ची श्यामा नहीं है। अब एक पहाड़ी नौकर भी घर में है, जो रोटी-बासन सब काम करता है। श्यामकला अब और भी अच्छे बाल काढ़ना जानती है। महीन व नफीस कपड़े की उसे अब ज्यादा अच्छी पहचान है। पहनती भी उन्हें अब कहीं ज्यादा अच्छे सलीके से है। वे कपड़े उसपर अब बेहद अच्छे खिलते हैं। लेकिन अब वैसी हरएक बातपर वह तुनक नहीं जाती। अब वह महामहिम को ऐसे नहीं देखती कि मैं अब रूठी, अब रूठी। अब तो उसके चलन में धीरज रहता है और आँख में, कहो, आशा। अब तो भगती वह नहीं है, जैसे कुछ सामने की ओर बढ़ना ही चाहती है। अब तो तनिक भी महामहिम को झिकाने की बात वह नहीं सोचती। नहीं, अब वह बहुत समझदार है। सोचती यह है कि रिझाना कैसे होगा। किन्तु यौवन क्या कुछ अपना हक न रखे? क्या अपने वर्तमान में इतना पूर्ण, इतना मग्न वह न हो सके कि अतीत का रिक्त भर जाय? अब जब कि उसमें अपेक्षाशील यौवन है तब भी क्या अधिकारापेक्षिणी पत्नी वह न हो सकेगी?

पर यह मास्टर महामहिम लड़कों को पढ़ा-पुढ़ाकर जब आते हैं तो आकर कहते हैं, "कामकला-सी जो श्यामकला पुनि श्यामकले किधौं कामकले!"

और श्यामकला इसपर फुँककर रह जाती है।

दिनपर दिन बढ़कर आती हुई यह श्यामकला किसी प्रकार वही नहीं है जो नन्ही-सी थी, यह बात महामहिम को तो किसी क्षण सूझ पाती ही नहीं है। उसके निकट यह श्यामा स्नेहपोष्या न हो, क्या कभी भी ऐसा होगा?

* * *

मोशाय बाबूसे बालक खूब खुश हैं। उनकी अँगरेजी की योग्यता की मास्टरों में भी खूब धाक है, लड़कों में तो है ही। स्कूल में अधिकतर अँगरेजी ही वह पढ़ाते हैं। उनके घण्टे में, लेकिन, बालक पढ़ने से ज्यादा हँसते हैं। क्योंकि मोशाय बाबूको नाराज़ होना नहीं आता। हम तो यह कहेंगे कि जब उनसे गुस्सा तक करते नहीं बनता, तो पढ़ाना तो क्या खाक बनेगा? और यह अमिट सत्य ही समझिए कि जो स्वयं योग्य है वह मास्टर चलताऊ (Indifferent) ही है। शिष्यके पीछे डण्डा तो उससे उठाते बनेगा नहीं, तब आप ही सोचिए, अध्यापकी उससे किस प्रकार बन सकेगी?

क्लास में मास्टर मोहामोहिम मोशाय बालकों की पाठ्यपुस्तक की कहानी के साथ कभी विलायत के इतिहास की कहानियों में पहुँच जाते हैं। वहाँसे जाने क्या सहारा पकड़कर अपनी ही कथा पर उतर आते हैं। तब कहते हैं, "आमरा देश बंगाला हय। बहोत शुन्दर देश हय। उहाँ बोड़ा-बोड़ा फल होता हय। बंगाला भूमी बहोत जरखेज हय। रोकम-रोकमा उहाँ मीठाई होता हय। आमरा देश का इस्त्री लोग बेशी शुन्दर हय। आमरा बोहू का नाम तुम लोग जानता हय? ओशका नाम श्यामकान्ता बोलो, के श्यामलोता, के श्यामकीर्ति, के श्यामकोला, के बोलो श्यामवाला। शब ठीक हय। रंग अलबत्त श्याम हय। किन्तु बहोत शुन्दर देखता हय। हामको बहोत धन दहेज में देता था, हाम नहीं लिया। आमरा बोहू बहोत बोड़ा घरका हय। हाम को बहोत प्यार करता हय...।"

बालक ये कथायें सुनकर बड़े प्रसन्न थे। किताब का जब कि एक भी शब्द उनके मनपर न ठहरता तब देश बङ्गाला की तरह-तरह की मिठाइयाँ और भाँति-भाँति के फल मानों उनके सामने वहीं प्रत्यक्ष हो जाते थे। वे बालक मोशाय मास्टर के यहाँ काम-

बेकाम भी पहुँचा करते और तरह-तरह के उपहार जाकर मास्टरनीजी को दिया करते थे। मास्टरनीजी भी बालकों को प्यार करती थीं। इससे जब मोशाय मास्टर उनकी मास्टरनी जी का जिक्र उन्हें सुनाते तो उनको बड़ा अच्छा लगता था। लेकिन बालक कहते, "मास्टरजी, किताब पढ़ाइए जी, किताब !"

मास्टरजी कहते, "ओ, तुम लोग बोदमाशी करता हय ! किताब पढ़ो ! किताब। तुम लोग फेल होगा तो आमरा नाक कटेगा। बोलो "कैसाबियंका" कौन था ? उशका क्या कहानी हय ?"

थोड़ी देर पढ़ाई चलती और मास्टरजी कहते, "तुम बंगाला देश में कोलीकाता शहर का नाम शुना हय ? बहोत बड़ा शहर हय। रोकम-रोकम का गाड़ी उहाँ चलता हय ! रेल चलता हय, इस्टीमबोट चलता हय, ट्राम-गाड़ी, मोटार-गाड़ी, रिकशा गाड़ी बोगैरा-बोगैरा बहोत रोकम का गाड़ी चलता हय। इस्टीमबोट तुम लोग जानता हय ? वह इस्टीम का जोर से चलता हय। ऊहाँ हुगली दरिया हय। उसका ऊपर बहोत बड़ा पुल बना हय। हामने ओहीं से एफ० ए० पास किया। आमरा शादी उसके बाद हुआ। हाम पहले उजला बोहू चाहता था। शादी का वखत आमरा बोहू दश बरश का था। आमरा बोहू का उज्जल रंग नेई परन्तु अति शुन्दर। हामरा बोहू खूब भोला।"

बालक याद दिलाते, "मास्टरजी, कैसाबियंका !" और मास्टरजी एक साथ कठोर होकर कहते, "ओ, तुम लोग खेल करना माँगता हय। खेल नाहीं चलेगा। शोबक पढ़ो, शोबक। तुम लोग फेल होगा तो बहोत बुरा बात होगा। हेड मास्टर हामको बोलेगा। हाम बोलेगा लरका लोग बरा शितान हय।"

यो कमची-पूर्वक न पढ़ाते थे तो क्या, वैसे उनके विषय में

विद्यार्थी कमजोर नहीं रहते थे। विद्यार्थियों का और उनका आपस में बड़ा अपनापा हो गया था। मास्टरजी अपने घर की छोटी-छोटी बातों को लड़कों के सामने ऐसे पेश किया करते थे मानों सलाह माँगते हों। अबोध बालक उन बातों में से और कुछ सार ग्रहण करते हों, न करते हों, मास्टरजी का स्नेह तो ग्रहण करते ही थे।

स्कूल मिडिल-स्कूल था और अतरौली कस्बा भी बड़ा न था। हमारे मोशाय बाबू में बहुत रब्त-जब्त बढ़ाने और बढ़ाकर खुद बढ़ने की सिफ़्त ज्यादा न थी। पैंतीस रुपये के यहाँ मास्टर लगे और तीन रुपये प्रति वर्ष तरक्की पाते-पाते अब उनके पचास रुपये से कुछ अधिक हो गये थे। वेतन के रुपये पा लिये, लम्बी छुट्टी हुई तो कभी अपने देश बङ्गाला घूम आये; नहीं तो बालक विद्यार्थियों में और अपने सङ्गी मास्टरों में मिल-बोलकर ही वह रह लिया करते थे। कोई लड़का कभी उनका पानी भर देता, कभी और कुछ और काम कर देते। इस प्रकार मास्टरजी, बिना ज्यादा फिक्र पाले और बिना ज्यादा मेल-मुलाकात का परिग्रह बढ़ाये, अपने काम में नियुक्त, युवती श्यामकला के भर्तार बने मजे में जिये चलते थे।

* * *

किन्तु एक अवस्था ऐसी होती है कि व्यक्ति प्रेम पाये, इतने ही से उसका जी नहीं भरता। वह इस बोध को भी चाहता है कि यह प्रेम उसे मिल ही नहीं रहा है, प्रत्युत वह उस प्रेम को अपने बल से खींच रहा है। यौवन इसी अवस्था का नाम है। जो प्रेम निरपेक्ष होकर दान की तरह दिया जाता है, उसका स्वीकार करना यौवन का अपमान भी हो सकता है। जिसे अपनी शक्ति का भरोसा है,

वह दान कैसे ले सकेगा ? उपार्जित अर्थ ही उसके लिए अर्थ है। यों विश्व की समस्त सम्पत्ति में भी उसे तृप्ति नहीं है।

श्यामकला जैसी भी हो, जो भी हो, इस ओर से असम्बद्ध होकर जो प्रेम उसे दिया ही जाता रहेगा, क्योंकि दिया ही जाता रहा है, उस प्रेम को लेकर यौवन-गर्विता श्यामकला का जी कैसे भरे ? जो विवश नहीं है, जिस प्रेम में उन्माद नहीं है, जिसमें चाह की धार नहीं है, उसको वह श्यामकला कैसे समझ ले कि वह उसका अर्जित है, उसका अपना है, उसका स्वत्व है ? वय पाने पर क्या कन्या माता और पिता के सहज प्रेम से बाहर नहीं बढ़ चलती ? क्या उसमें अपेक्षा नहीं जागती कि कोई प्रेम हो जो उसके बेटी या बहन होने के कारण उसे स्वभावतः ही न मिलता हो, प्रत्युत उसके अपने ही कारण, उसके अपने ही जोर पर उसे मिले ? क्या उसे नहीं अनिवार्य चाह हो आती उस प्रेम की, जो उसके रूप, उसके यौवन, उसके अन्तस्थ स्त्रीत्व की माँग के उत्तर में विवश होकर उसमें खिंचा चला आवे, जैसे आग में पतङ्ग ? ऐसा प्रेम जब तक वयःप्राप्त को न मिले, तब तक पिता-माता के लाख स्नेह के होते भी क्या उसमें कुछ आकांक्षा, कुछ अभाव, कुछ कलक बनी ही नहीं रहती ?

श्यामकला को तो स्वामी की ओर से सदा ही सचिन्त प्रेम मिलता रहा है। वह नाराज हुई है तब भी उसे लाड़ से मना लिया गया है। हँसी है, तब भी उसके साथ हँस लिया गया है। उसकी तबियत की सदा रक्षा की गई है। सदा ही सब बातों में उसे बहला रखा गया है। क्या वह इस स्नेह के मूल्य को नहीं जानती ? लेकिन—

लेकिन महामहिम अपने प्रेम को किस प्रकार कम गाढ़ा करे

कि उसमें उद्वेग दिखाई दे? वह प्रेमधारा उसमें क्या कभी रुकती भी है, जो गतिशील दीखे? क्या वह कहीं उथली है, जो कभी उत्कट भी हो? क्या उसमें द्वन्द्व है कि वहाँ विक्षिप्त फेनिल लहरें उठें? तरङ्गहीन, कूलबद्ध, एकरस होकर ही तो प्रेम इस महामहिम में श्यामकला के प्रति बह सकता है। क्योंकि वह उसमें गहरा होता गया है।

यह क्या बात है कि वह मुझ पर कभी नाराज भी नहीं हो सकते हैं?—श्यामकला सोचती है—क्यों वह नहीं मानते कि मैं पूर्ण स्त्री हूँ? क्यों वह मुझे बहलाते ही हैं, धमकाते नहीं; जैसे कि मैं बच्ची ही हूँ? मैं नहीं चाहती अच्छा पहनना, अच्छा रहना। फिर वह क्यों नये-नये कपड़े लाकर दिये जाते हैं? और जब मैं उन्हें पहनती हूँ तब क्यों उनकी निगाह से वे ही कपड़े नीचे रह जाते हैं? क्यों मेरे साथ वह अपने पढ़ने-लिखने की और और तरह की बातें नहीं कर पाते? क्यों ऊपर के मन की और हल्की ही बातें मुझ से की जाती हैं? क्यों मेरा उनके ऊपर कुछ ऐसा बस नहीं है कि मैं उन्हें फेर सकूँ?......

और उनके यहाँ जो रहता है पहाड़ी नौकर, उसका हिशाब होने लगा है कि वह श्यामकला का जरा रोब न माने। उसकी सुनी वह अनसुनी कर देता है। जब श्यामकला झल्लाती है तो वह हँसना चाहता है। जब गुस्से में श्यामकला काँपने लगती है तो वह बेहूदा आदमी उसके सामने मुँह बिराकर अपने रास्ते चलता चला जाता है।

श्यामकला उसकी खूब खबर लेगी।—एक तो कम्बख्त गुस्ताख़ हो गया है, उधर बालों में तेल डालकर कुल्ले भी काढ़ने लगा है!

उसको कपड़े क्या बना दिये हैं कि जेण्टिलमैन बना डोलता है। उस पहाड़ी नौकर की सूरत देखकर उसे चिढ़ हो आती है।

वह जोर से चिल्लाई, "महादेवा, ओ महादेवा!"

महादेव उस उन्नीस-बीस वर्ष के पहाड़ी छोकरे का नाम है।

"सुनता है कि बहरा हो गया है?"

सामने आकर मुसकराते हुए महादेव ने कहा, "बहोजी, क्या होकुम है? हम तो आपके होकुम का ताबेदार है।"

बहोजी ने कहा, "नालायक, सूअर, पाजी, दूर हो मेरी आँखों से।"

महादेव ने हँसकर कहा, "बहोजी, खफा काहे होती हैं? हम हजूर का गुलाम हैं।"

"बदमाश, बालों में इतना तेल काहे डाला?"

महादेव ने अपनी धोती का पल्ला उठाकर अपना सिर पोंछ लेते हुए कहा, "लो, बहोजी। रिस मत होओ! अब कसूर नहीं होगा।" और कहकर वह फिर हँसा।

बहूजी ने कहा, "पाजी, हम से हँसी करता है!"

महादेव ने कहा, "बेलकुल नहीं, बहोजी।"

"हमारा धोती धोकर सोखा दिया?"

"सुखा दिया।"

बहूजी ने बेहद गुस्सा होकर कहा, "कहाँ सोखाया?

"आसमान पर सुखाया।"

यह कहकर नल के नीचे पत्थर पर पड़ी धोती को महादेव जाकर फींचने लगा। श्यामकला ने गरज कर कहा, "बौदमाश!" और तैश में फुफकारती हुई अपने कमरे में चली गई।

महादेव धोती धोकर सुखा देता, और कोठरी में जाकर कहता, "बहोजी, सुखा दिया।

श्यामकला गुस्से में काँपकर रह जाती।

महादेव बहूजी के पैर पकड़कर कहता, "बहोजी, खफा मत होओ।"

बहूजी पैर झिटककर कहतीं, "निकल जा, तू मेरे यहाँ से।"

—इस भाँति बहूजी और नौकर दोनों परस्पर निकट आते-जाते थे।

श्यामकला इस उद्धत और जवाब देने वाले नौकर से झींककर भी भीतर-ही-भीतर गर्व का अनुभव करती है। इस नौकर के साथ वह मालिक है। इस नौकर को लेकर उसके अहङ्कार को तृप्ति मिलती है। वह तुष्ट होती है। आनन्द मिलता है। उसे कुछ अपनी सार्थकता अनुभव होती है। उसे लगता है, इस नौकर के सामने होकर वह अपने अधिकार में भी कुछ है। वह कृपाकांक्षिणी नहीं है, अनुग्रहदात्री ही है।

* * *

और जब मास्टर महामहिम घर पर आकर अपनी किताबें यथास्थान रखकर पत्नी के सामने पहुँचकर कहते हैं, "कामकला-सी जो श्यामकला पुनि कामकला किधौं श्यामकला!" तब पत्नी चुपचाप अपने काम में ही रहती है, पति का प्रेम-सम्बोधन उसको बिना छुए हुए ही उसके ऊपर से निकलता चला जाता है।

पति कहते हैं, "मैं एक चीज तुम्हारे लिए लाया हूँ, चलो देखती हो?"

श्यामकला पूछ लेती है, "क्या है?"

वह यह ऐसे पूछती है कि मानो नित्यकी तरह पूछती हो,

"क्या हाल है।" यह नहीं कि मास्टरजी इस फीकेपनको नहीं समझते आ रहे, लेकिन वे और भी आग्रहपूर्वक कहते हैं, "चलो देखो, क्या है।"

श्यामकला चुपचाप उठकर साथ चली जाती है और देखती है कि पति उसके लिए साड़ीका एक ब्रूच लाये हैं। महामहिम पूछते हैं, "कैसा है, पसन्द आया ?"

श्यामकला कहती, "अच्छा है।"

मास्टरजी कहते, "यह जो धानी साड़ी है उसपर लगाना, खूब खिलेगा, और लो।"

एक दोनेमें मावेकी गुझियाँ लेते आये थे, सो दे दीं।

श्यामकला को इस तरह की बात बहुत बुरी लगती है।

उसने कहा, "क्या तुमको यही लगता है कि मैं भूखी रहती हूँगी ?"

"नहीं, नहीं प्रिये, अबके मैं देश से कुछ सन्देश और रसगुल्ला मँगा भेजूँगा। यह पहाड़ी लड़का अच्छा खाना नहीं बनाता। मेरी कोई बात नहीं, मुझे सब चलता है। तुमको जिस बात की जरूरत हो, मुझसे कह देना। खाना तुमको ठीक लगता है ?"

"मुझे किसी चीज की जरूरत नहीं है।"

महामहिम को यह सुनकर कुछ खुशी नहीं होती। वह चाहता है कि उससे जरूरतें खुल कर कही जाती रहें और वह उन्हें यथाशक्ति पूरा करता रहे। मानों इस भाँति वह प्रमाणित करना और देखना चाहता है कि श्यामकला के प्रति उसका प्रेम पूर्ण है।

वास्तव में श्यामकला उसके जीवन के साथ मिल कर ऐसी स्वतःसिद्ध अंश हो गई है कि उसके अभाव पर कल्पना भी नहीं जाती। इससे उसके प्रति अपनी आकांक्षा का उन्हें अनुभव नहीं

होता। जीवन में श्यामकला उनके लिए आकांक्षा है, प्रार्थनीय है, यह समझ देखने का उन पर अवसर नहीं आया। श्यामकला सदा से ही उनके निकट सुप्राप्त है, इससे उनके जीवन में वह है, यह भी बोध लगभग उन्हें नहीं होता।

एक रोज जब एकाएक कमर में दर्द हो आता है तब उस कमर के अस्तित्व का हमें ठीक-ठीक बोध होता है। साधारणतया हम जीते ही चलते हैं, बिना यह चिन्ता रखे कि कमर भी हमारे है। अन्त में एक दिन दर्द उठ कर उस हमारी कमर को हमारे निकट ही प्रमाणित कर देता है।

मास्टर महामहिम स्कूल से आकर कोशिश कर के पत्नी श्यामकला के साथ कुछ देर बहल लेते हैं, और फिर अपने दिन के क्रम को यथापूर्वक चलाने लगते हैं। उनका अधिक काल स्कूली किताबों, स्कूली लड़कों में जाता है। जब घर में नौकर है और पत्नी वयस्का है, तब घर का कुछ भी अता-पता रखने की ओर से वह निश्चिन्त हैं। जो होता है, हो, वह वक्त पर स्कूल चले जावेंगे, रात होते-होते फिर किताबें लेकर बैठ जावेंगे और सबेरे जो वक्त मिलेगा उस में भी किताबें सामने लिये रहेंगे। और ये स्कूल के लड़के भी बेवक्त और हर वक्त बस्ता लिये मास्टर के पास आ पहुँचते हैं। जो वक्त मिलता भी है, उसे वे खा जाते हैं।

जिस प्रकार स्वस्थ व्यक्ति को अपने शरीर के अङ्गोपाङ्ग की साधारणतया खबर नहीं रहती, वैसे ही स्वस्थ-प्रेम महामहिम को अपने गृहस्थ-जीवन के किसी विशेष भाग को चिन्तापूर्वक अधिक आत्मदान करने की आवश्यकता की खबर नहीं थी।

इस प्रकार अतरौली कस्बे के मिडिल स्कूल में मास्टरी करते दस वर्ष होने को आये, तब सहसा एक दिन पढ़ा कर लौटने पर

उन्होंने पाया कि घर सूना है, श्यामकला नहीं है ! वह पहाड़ी नौकर भी नहीं है !

* * *

उन दिनों बालकों की छमाही परीक्षा के दिन निकट आ रहे थे। बहुत-से लड़के मास्टरजी से पढ़ने आया करते थे। उस दिन मास्टरजी ने खाना नहीं खाया था। याद ही नहीं आई थी कि खाना भी खाना है। अभी तक यह भी सुध उन्हें नहीं हुई थी कि खाना बनायेंगे, तब बनेगा। वह अपनी कोठरी में बैठे थे, वहाँ बैठे ही रहे। वक्त बीतता गया और दिन ढलने के बाद शाम आती गई। पर वह बैठे ही रहे। इतने में बाहर से बालकों की आवाज उनके कानों में पड़ी, "मास्टरजी, मास्टरजी !"

मास्टरजी ने अनायास कहा, "आओ भाई," और वह लालटेन जलाने के लिए उठे।

बालक शोर मचाते हुए अन्दर आ धमके, बोले, "मास्टर जी, यह तो बड़ा अँधेरा कर रखा है, लाइए बताइए, कहाँ है लालटेन, जलाएँ।"

मास्टर जी ने कहा, "लालटेन ! देखो चौका में होगा।"

दो बालक उधर गये। औरों ने कहा, "मास्टरनी जी कहाँ गई हैं, मास्टर जी ?"

मास्टर जी बोले, "आमरा नौकर का साथ अपना अम्मा के गया हय।"

बालकों ने कहा, "वाह मास्टर जी, आपने हमको पहले से कुछ नहीं बताया। हम पहले आकर आपका सब काम कर देते।"

मास्टर जी ने कहा, "हम शोचता था, हम काल बोलेगा। आमरा वहू वहोत खराब है। हमारा पीछा चला गया।"

बालकों ने आपस में सलाह की कि मास्टर जी को कोई तकलीफ नहीं होनी चाहिए। वे लोग तैयार हुए कि पानी न हो तो भर कर रख दें या और जरूरत हो तो कर डालें।

जब कहीं से भी दियासलाई लेकर और लालटेन ढूँढ़ कर उसे बालक जलाकर ले आये, तब मास्टर जी बोले, "आओ, आओ, अब तुम लोग सोबक पढ़ो।"

एक ने पूछा, "मास्टर जी, मास्टरनी जी कब आएँगी?"

मास्टर जी ने कहा, "कहने नहीं शकता... तुम लोग परीक्खा मे पास होना माँगता हय। तो खूब मेनत करना माँगता हय। तुम लोगों का इस्तहान कितना दिन बाकी हय? दो हफ्ता से बेशी नहीं हय। तुम लोग शब अच्छा नम्बर से पास होना माँगता हय। आमरा बोहू चला गया हय। हाम अब तुम शबको बेशी बखत दे सकता हय।"

एक लड़के ने कहा, "मास्टर जी, कल मैं अपने घर से सबेरे-शाम दोनों वक्त खाना लाऊँगा।"

मास्टर जी ने कहा, "नहीं-नहीं, हम खुद बनाना माँगता हय।"

बालकों ने कहा, "नहीं-नहीं, मास्टर जी। और वे अपनी-अपनी ओर से उन्हें निमन्त्रण देने लगे।"

मास्टर जी ने कहा, "आमरा बोहू वापिस लौटेगा तो बहोत गुशा होगा। बोलेगा, तुम यह क्या किया। अब तुम लोग सोबक पढ़ो, सोबक।"

पढ़ाई होने लगी। पढ़ते-पढ़ते धीरे-धीरे लालटेन की रोशनी कम पड़ने लगी। मास्टर ने भी देखा और लड़कों ने भी देखा कि तेल कम है। एक लड़के ने कहा, "लाओ, मैं तेल डलवा लाऊँ।"

एक दूसरे लड़के ने पूछा, "मास्टर जी, घर में तेल है?"

मास्टर जी ने चिन्तित मुद्रा से कहा, "तेल?" और सहसा आगे वे कुछ न कह सके।

पहले लड़के ने चुपचाप लालटेन ली और तेल डलवाने के लिए बाजार चल पड़ा।

कोठरी में अँधेरा हो गया। लड़के हँसने और दंगा करने लगे। मास्टर उस अँधेरे में खोया बैठा रहा। उसने अब देखा क्या कि अँधेरा अब उसके लिए बाहर है और भीतर है। बालकों ने कहा—"मास्टरनी जी को जल्दी बुलवाइए।"

मास्टर ने सुन लिया और पी गया।

एक और ने कहा, "मास्टरनी जी को दीवाली पर जरूर बुलवा लीजिए। आज अँधेरा है, उस रोज हम खूब रोशनी करेंगे।"

मास्टर ने सुन लिया और चुप रहा।

उस लड़के ने कहा, "मास्टर जी सुनते नहीं हैं? दीवाली पर उन्हें जरूर बुलवा लीजिएगा।"

मास्टर ने धीमे से कहा, "अच्छा।"

एक बालक ने कहा, "मास्टर जी, अँधेरा तो बड़ा खराब लगता है। डर लगता है, आपको डर नहीं लगता है?"

मास्टर ने कहा, "ओ, तुम लोग सोबक की बात नहीं करता हय। क्या एधर-ओधर की बात करता हय।"

इतनी देर में लालटेन आ गई। पढ़ाई शुरू हुई। लेकिन मास्टर का जी इस घर में बैठ कर दबा-सा ही आता है। उसने कहा, "देखो लरको, तुम इहाँ से रात को अपना घर दूर-दूर जायगा। यह ठीक नहीं-हय। हम काल-से तुमरा ही किसी का घर पढ़ाने आयेगा। बोलो, किसका घर ठीक बोलता हय?"

अन्त में एक बालक का घर निश्चित हुआ और मास्टर ने

कहा, "अच्छा, अब तुम लोग जाने सकता हय। हाम काल-से खुद पढ़ाने आएगा।"

बालक छुट्टी पाकर अप्रसन्न न हुए और उन्होंने फिर आग्रह करना शुरू किया कि मास्टरनी जी को जल्दी बुला लें, दीवाली पर तो जरूर बुला लें, मास्टर जी ने कहा—"अच्छा, अच्छा"। और हँसते-खेलते बालक विदा हुए।

उसके बाद मास्टर ने उठकर अपना तमाम घर देखा। यह देखने के लिए नहीं कि पत्नी के साथ क्या-क्या और सामान चला गया है। देखने के लिए यह कि कहीं किसी कोने में रूठ के छिपी हुई वह पड़ी ही तो नहीं है। उसकी एक धोती सूख रही थी जिसको उन्होंने चुनकर उसी खूँटी पर वैसे ही टाँग दिया जैसे वह और दिनों टँगी रहती थी। दोनों खाटों को वैसे ही बिछा दिया जैसे और दिनों बिछा करती थीं। और जब और कुछ शेष न रहा तब बेचारा मास्टर अपनी खाट पर आ रहा कि सोए।

* * *

घर को उस हालत में रखकर कि जो यहाँ से चली गई है वह जब आए तो पाए, उसकी धरोहर ज्यों की त्यों है, महामहिम वहाँ से अधिकतर अनुपस्थित हो जाता और लड़कों में ही अपने को भूलता रहता। घर की स्वामिनी आ जाय तो घर को अपनी बाट जोहता ही पाए, इस भाँति उस घर को वह प्रस्तुत और सँवारे रखता। सुबह और रात, और जब भी अवकाश हो, वह बालकों में पहुँच जाता।

बालक एक रात पढ़ रहे थे। सात बजे से पढ़ रहे थे, अब नौ होता होगा। उन्हें नींद-सी आ रही है। महामहिम पढ़ा रहे हैं—

"आच्छा नींद आता हय? तो सोओ। हाम चला जाता हय...

भूगोल ! देखो, धरती गोल है, नारङ्गी का माफिक ! ओह, तुम लोग सोओ, हाम चला जा रहा हय...।"

कहकर मास्टर दरवाजे की तरफ को बढ़ते। कहते—"देखो, इस सूवा में कौन-कौन दरया है ? गङ्गा, जमुना, घाघरा, चम्बल, केन। हिस्ट्री में—"

कहते-कहते कमरे में फिर मास्टर वापिस लौट पड़ते।

—"हिस्ट्री में आर्य जाति का विजय और उनका शोभ्यता खूब याद करना चाहिए। कौन-कौन लोग ने भारतवर्ष पर चढ़ाई किया ? ओह, तुम लोग सोओ, हाम चला जाता हय।..."

फिर दरवाजे की तरफ बढ़ते और अँग्रेजी अथवा गणित या भूगोल-इतिहास की कोई बहुत जरूरी बात बतलाते-बतलाते फिर लौट पड़ते।

वास्तव में उनका अभ्यन्तर उस अपने मकान में इस रात्रि के अँधेरे में अपने को अकेला पाने से बचता था। इन बालकों को परीक्षा में उत्तीर्ण कराने के प्रति उनकी चिन्ता भी कम नहीं थी।

इसी भाँति दिन बीतते जाते रहे। दीवाली ज्यों-ज्यों पास आती थी, लड़कों का आग्रह बढ़ता जाता था कि मास्टरनी जी को अवश्य बुलवा लेना चाहिए। मास्टरजी लड़कों के साथ पहले अनायास ही बँध चुके थे जब उन्होंने एक बार कहा था, "हाँ-हाँ।" उसके बाद उन्होंने लड़कों को यह भी कहा था कि उन्होंने अपने श्वशुरालय चिट्ठी डाल दी है। लड़के रोज पूछते थे, "मास्टरजी, मास्टरनी जी का जबाब आया ?"

मास्टर जी कहते, "हाँ, ओहाँ शब ठीक है। लेकिन आने का बाबत कुछ नई लिखा।"

"मास्टर जी, दीवाली के रोज लक्ष्मी-पूजन होता है। मास्टरनी

जी को लिखिए कि पन्ना, चुन्नी और रामसिंह उन्हें बहुत याद करते हैं—"

"और मैं।"

"और मैं।"

शेष लड़कों ने भी शोर मचाया—

मास्टर जी ने कहा, "अाच्छा, अाच्छा।"

लड़कों ने कहा, "और हम सबका पालागन लिखिएगा।"

"अाच्छा, अाच्छा।"

इसी भाँति एक रोज बालकों को उन्हें कहना ही पड़ गया कि मास्टरनी जी ने तुम सबको अपना बहुत प्रेम भेजा है और लिखा है, दीवाली को आने की कोशिश करूँगी।

दीवाली से पहले दिनों बालकों में उत्साह था। महामहिम का दिल बैठता जाता था। बालक पूछते, "मास्टर जी, वह आएँगी?" मास्टर जी कभी कहते, "हाँ," कभी कहते, "नहीं," अधिकतर कहते, "कहने नेई शकता...।"

बालकों ने मास्टर जी का घर झाड़-बुहार कर खूब साफ कर दिया। मास्टर जी ने कहा था कि दीवाली को वह न आईं तो वह खुद उनको लेने जायँगे। बालकों ने पूछा था, "फिर मास्टर जी आप कब लौटेंगे?" इसके उत्तर में मास्टर जी ने कहा था, "आमरा वोहू बड़ा घर का है। छोटा शेहर ओ पशंद नेई करता। हाम गया तो वापिश नहीं फिरेगा। कोलिकाता शहर में रहेगा। ओहाँ आमरा वोहू का मर्जी बेशी लगेगा।"

इसलिए लड़के दत्तचित्त होकर मास्टर जी के घर को खूब साफ करने में लगे हैं कि मास्टरनी जी न आती हों, तो भी आ जायँ।

दीवाली का दिन आ गया है। वह दिन आकर अब बीता भी जा रहा है। शाम हो चली, अब रात होगी और लोग रोशनी करेंगे। दीपकों की पंक्तियों पर पंक्तियाँ जला कर आज वे द्योतित घरों में लक्ष्मी का आवाहन करेंगे। दीपकावलियाँ अमावस्या को व्यर्थ करती हुई घर-घर, नगर-नगर ज्योतिष्क होंगी। लोग मिलेंगे। बच्चे खेलेंगे। मिठाइयाँ बँटेंगी। मङ्गल-मोद होगा। ऋतु बदलेगी। हुलास खिलेगा।

लड़कों ने प्रबन्ध किया है कि यह सब-कुछ मास्टरजी के घर में होगा। चुग्गे आ गये हैं। बत्तियाँ बट डाली गई हैं। तेल तैयार है। हिसाब हो गया है कि कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे कितने रखे जाएँगे। सब काम लड़के कर रहे हैं और मास्टरजी से अनुमति लेते जाते हैं। एक लड़का आता है। कहता है, "परली कोठरी में आलों में दो-दो दिये रखे जाएँगे न, क्यों मास्टर जी ?

मास्टर जी कहते हैं, "हाँ-हाँ।"

दूसरा आकर कहता है, "नहीं, मास्टर जी चार-चार रखे जाएँगे। ठीक है ?"

मास्टर जी कहते हैं, "हाँ-हाँ।"

लड़कों के उत्साह में मास्टर जी भी उत्साह ले रहे हैं। कोई पूछता है,—

"अभी तक तो वह आई नहीं, मास्टर जी। अब कल आएँगी, कल बड़ी दीवाली है। है न ?"

मास्टर जी उस बालक के प्रति देखकर कहते हैं, "हा-हाँ।"

बालक औरों की तरफ देखकर कहता, "देख लो, मैं कहता था न, कल बड़ी दिवाली है, सो कल आएँगी। देख लो, मास्टर जी

भी कह रहे हैं कि कल आएँगी।" सब बालक मास्टर जी की ओर देखकर कहते, "क्यों, मास्टर जी ?"

मास्टर जी अत्यन्त आशामय बनते हुए कहते, "होने शकता हय।"

जगह-जगह कोने-कोने में दिये जलाये गये। अपने थोड़े-थोड़े स्नेह को पतली-पतली बटी रुई की बत्तियों के सहारे जलाकर वे दीपक अपने चारों ओर प्रकाश फैलाए हर-तरफ बिछ गये। महामहिम ने पाया कि वह स्वयं भी उन दियों को बालकों के हाथ में देकर अथवा उनके हाथों में से लेकर जगह-जगह प्रस्थापित कर रहा है। घर में अलोक-ही-आलोक हो गया है। अँधेरा सिमटकर भी कहीं बैठ सके, इतना भी अवकाश उसे नहीं है। पर मानों वह सबका सब एकत्रित, घना होकर काला-काला उसके भीतर घुसकर बैठ गया है।

बालकों ने कहा, "मास्टर जी, कैसा अच्छा लगता है ?"

मास्टर ने कहा, "बहोत आच्छा लगता हय !"

बालकों ने कहा, "मास्टर जी, आपके यहाँ लक्ष्मी जी की तसवीर है ? उनके नीचे एक घी का दिया जलना चाहिए।"

मास्टर जी ने कहा, "आमरा पास नेई हय।"

"कोई भी तसवीर नहीं है ?"

"विवाह का बाद का हम दोनों का एकठो फोटाग्राफ हय।"

बालकों ने उसी को लिया, उसे एक उच्च जगह स्थापित किया, उसे माला पहनाई और उसके चरणों में एक रुपया और घी से भरा हुआ एक बड़ा दिया जलाकर रख दिया। फिर वे लोग जाने के लिए आज्ञा माँगने मास्टरजी के पास आये और बोले, "मास्टर जी, हम लोग अब जाते हैं।

मास्टर जी गद्गद हो आये। और उन्होंने बस इतना कहा, "अच्छा।"

बालकों ने पूछा, "मास्टरजी, कल बड़ी दीवाली को तो मास्टरनी जी आ जावेंगी न ?"

मास्टर जी ने कहा, "होने शकता हय।"

बालक चले गये। तब महामहिम ने एक गहरा श्वास छोड़ा। वह उस कमरे में आये जिसमें माला-चर्चित उनका चित्र रखा था। उसके चरणों में घी का दीपक आलोकित था। उसने देखा, वह धोती चुनकर उसी भाँति खूँटी पर टँगी है। दूसरी खाट उसी भाँति बिछी है। उसका मन तो दोषारोपण करने कहीं भी जाता नहीं है। वह तो यही देखता है कि वह शय्या अप्रयुक्त ही रहती है। वह धोती अनावश्यक रूप में खूँटी से टँगी ही रहती है। वह खाट पर आकर एकस्थ एकटक देखता हुआ बैठा रह गया। मद्धम ज्योति से बुझ-बुझकर जलते हुए दीपकों को वह देखा किया। एक-एककर वे सब बुझते चले गये। अकम्पित हृदय और स्नेह के साथ जलता हुआ वह दिया ही उस कमरे को प्रकाशित किये रहा जो उस विवाहित दम्पति के चरणों में लौ लगाये, उन्मुख बैठा था। महामहिम बहुत देर तक इसी भाँति बैठा रहा। आज उसने घर के किवाड़ भी बन्द नहीं किये, खुले ही रहने दिये। धीरे-धीरे उसकी आँखों पर पलकें गिर-सी चलीं। उसी समय उसे मालूम हुआ जैसे कोई घर में आया है। लेकिन नहीं, कोई भी नहीं आया। वह पूरी तरह आँख खोलकर बैठ गया। बाहर दिये बुझ चुके थे और निविड अमारात्रि फैली थी। शनैः-शनैः नींद से फिर उसकी आँखें झपने लगीं। किन्तु वह चाहता है, जागे ही जागे। आज इस रात को उस रात से मिला दे। वह सहसा उठा।

18005

उसने देखा—कमरे में आलोक फैलता हुआ वह दिया मद्धम हो गया है। उसने सुना है, लक्ष्मी दो तिथियों के सन्धि-क्षण में ठीक रात्रि के मध्यम मुहूर्त में आती हैं। वह आवें तो घर को प्रकाशित प्रतीक्षा में ही पावें। उसने बढ़कर दिये की बत्ती उकसा दी। उद्योत उज्ज्वलतर हुआ। वह खाट पर आ गया। और हौले-हौले सपने फिर पलकों पर उतरने लगे। शनैः शनैः वह शय्या पर लेट गया।

बाहर दालान में अन्धकार में भी सिमटती हुई जो नारी बैठी थी उसको अब शनैः शनैः ढाढस बँधा। नहीं तो उसका डर जाता ही न था। चारों ओर का प्रकाश, उसे मानो डसने आता था। गड़कर लुप्त हो जाने के लिए भी वह अपने तईं कहीं काली जगह न पाती थी। ड्योढ़ी के बाहर जिस किसी तरह वह तमिस्रा के परदे में जीती रही। प्रकाश में पड़ती तो, हाय राम, क्या होता? अब उस कमरे के भीतर, जिसमें महामहिमामय महिम है, जाने का साहस उसे न होता था। क्योंकि यद्यपि महिम सोता है, पर दीपक जाग्रत है। उसका प्रकाश मानो उसे लील जायगा। भीतर की ग्लानि से, मानो. प्रकाश की एक भी किरण पाकर, उसका जी फटे बिना कैसे बचेगा। वह नारी दबे पाँव कमरे में घुसकर दीपक की ओर बढ़ी कि उसे बुझा दे और फिर अँधेरे में इस सोते हुए महामहिम के पाँव पकड़कर निशीथ को चीरती हुई चीख उठे, "नाथ!"

किन्तु दीपक को फूँक से बुझाये ही, कि उसने देखा, कि दीपक तो उन्हीं दोनों के चरणों के निकट लौ बाँधे बैठा है। यह देखकर उसने अपनी छाती मसोस ली। कुछ देर, स्तब्ध, उसी चित्र के आगे वह खड़ी रही। और फिर हृदय कठोर करके वह सोते हुए व्यक्ति की ओर बढ़ गई। सावधानतापूर्वक महामहिम के पैर उसने

Sri Pratap Singh Library

पकड़े। और फिर उन चरण-तलों में जोर-जोर से वह अपना माथा ठोकने लगी!

जाने महामहिम क्या स्वप्न देख रहा था। वह एक साथ उठा, बोला, "एशेछेन माँ लक्ष्मी, आशुन।"

नारी ने उसके चरणों को और भी जोर से पकड़ लिया और फूट-फूटकर रो उठी।

महामहिम ने दोनों हाथों से उठाकर शय्या पर बिठाया, कहा, "लक्ष्मी जखन एशेछेन, तबे फिरे जेते पारिबेन ना। आलो निविए दिच्छी, केमन करे जाबेन?" कहकर दीपक बुझा दिया—

* * *

अगले दिन अँधेरे ही दुकान खुलवाकर महामहिम बहुत-सी मिठाई लाया। उसे घरमें रखकर एक बालक के घर जाकर कहने लगा, "ओरे चुन्नी, ओभी शोता हय। आमरा बोहू तुमरा वास्ते खूब-सा मिठाई लाया हय!"

फिर दूसरे बालक के घर जाकर कहा, "पोन्ना! पोन्ना! शुनो, आमरा बोहू तुमरा वास्ते मिठाई लाया हय।"

फिर तीसरे के यहाँ, फिर चौथे के यहाँ......।

बालक लोग मिले, आपस में कहने लगे, "देखो, हम कहते थे न, बड़ी दिवाली को मास्टरनी जी आवेंगी?"

सब लोग मास्टरजी के घर पहुँचे। मास्टरनी जी को नमस्कार किया। देखा, मास्टरनी जी तो बड़ी दुबली हो गई हैं। वे लोग बोले, "मास्टरनी जी, आपने अपनी बीमारी की कोई खबर भी नहीं दी और आप तो बिलकुल अचानक आ गई हैं। पहले से खबर भी नहीं करी।"

मास्टरजी जब बालकों में बर्फी और पेड़े बाँटने लगे तब खूब

खुश होकर खाते हुए बालकों ने कहा, "मास्टरनी जी, आप अपनी देश-वाली मिठाई क्यों नहीं लाईं ? वह रसगुल्ला और दूसरी क्या चीज होती है, हाँ सन्देश ?"

मास्टरजी ने झटपट कहा, "तोमरा देश का चीज लाया हय। कोलिकाता में सब रोकम का चीज मिलता हय। रोशगुल्ला तुम लोग को अच्छा लगेगा ? अबका बार जाना होगा तब खूब-सा रोशगुल्ला लाएगा।"

मास्टरनी जी इस बातचीत में जाने कैसे अपने आँसू रोके रहीं !

घुँघरू

दीनानाथ ने अभी बड़े अनमनेपन से फोन पर उर्मिला को आश्वासन दिया है कि अच्छा, अमुक समय आऊँगा।

उर्मिला दूर से आई है। होटल में ठहरी है। कहती है, "अकेली हूँ और संकट में हूँ।" दीनानाथ नहीं जानता कि इस सबसे उसे क्या मतलब है। अन्त में वचन का समय आधे घण्टे बीत जाने पर अपनी गाड़ी लेकर वह होटल पहुँचा।

पीछे की ओर से उसने द्वार खटखटाया। उसे हैरानी हुई कि अन्दर से कोई उत्तर क्यों नही आ रहा है। आखिर मुँह घुमाकर दरवाजे को अन्दर धकेला तो वह खुल गया। भीतर कमरे में काफी अन्धेरा उसे मालूम हुआ। एकाएक कुछ न पहचान पड़ा। अन्त में दीखा कि उर्मिला एक ओर पलङ्ग पर सोई पड़ी है।

अजब साज है। पाँवों में सैण्डल हैं, एक पैर पाटी के इधर लटका हुआ है, दूसरा बिस्तर पर। पोशाक चुस्त है, जाली कन्धों पर से कमर तक आकर वहाँ लपेट ली गई है, और......।

...सब देखकर मुस्कराता हुआ वह एक तरफ कौच पर बैठ गया

है, एक मिनट, दो मिनट, तीन मिनट। अन्त में उठकर टखने पर से उसे छूते और हिलाते हुए कहा, "उर्मिला! उर्मिला!"

उर्मिला उठी। उसने अँगड़ाई ली, आँखें मलीं, मुस्कराई। बोली, "ओह, आपकी राह देखते मुझे नींद आ गई।"

दीनानाथ ने कहा, "यह क्या वेश है?"

उर्मिला बोली,......"कुछ नहीं मैं नाच रही थी......अभी आई।" कहते-कहते एक झटके से बालों के जूड़े को बिखेर वह उसके सामने से बराबर लगे रूम में चली गई।

दीनानाथ ने हँसना चाहा पर वह हँस न सका। उसके माथे पर बल पड़ आये। उसे बुरा मालूम हुआ, जैसे उर्मिला की चुस्त, चिकनी पोशाक उसे चुनौती हो। वह कामिन्दा आदमी है, बड़ा दफ्तर है, कई कम्पनियाँ हैं। कभी पहले कवि था अब व्यवसायी और सफल व्यवसायी है। इस तरह की घड़ियाँ उसे नाहक मालूम होती हैं।

थोड़ी देर में बराबर के कमरे से निकलकर उर्मिला उसके पास आकर बैठती हुई बोली, "ओह! इतनी देर आपको कैसे लगी?"

दीनानाथ ने देखा कि सज्जा अब कुछ और सम्भल गई है। उसने कहा, "कहो क्या काम है?"

"क्यों जाने की जल्दी है क्या?"

"जानती तो हो काम-धाम में फुरसत कम ही मिलती है।"

"नहीं, मैं नहीं जानती......काम-धाम, काम-धाम! इतने अपने से आप क्यों नाराज हैं?"

दीनानाथ ने अपनी अप्रसन्नता को रोककर हठात् मुस्कराते हुए कहा, "अपनी बात कहो।"

उर्मिला ने कोई बात नहीं कही। वह अपनी जगह से खड़ी हो

आई, पास पड़ी गोलमेज के गिर्द होती हुई सामने आकर बोली, "कहती हूँ, बात—बात यह है कि मैं बहुत खुश हूँ, क्योंकि आजाद हूँ, इससे नाचने की तबीयत होती है, बोलो नाचूँ? देखोगे?"

दीनानाथ ने कहा, "क्या इसी के लिए बुलाया था?"

"कोई देखने को न हो तो क्या नाचना बेकार नहीं है?"

"अच्छा, चलो मैं बैठा हूँ।"

"अँह......क्या चलूँ घुँघरू तो हैं नहीं।"—

"तो छोड़ो, सीधे बैठकर अपनी बात कहो, लेकिन जल्दी!"

"नहीं करती जल्दी और नहीं बैठती", कहकर उर्मिला अजब ढंग से देखती, दिवार की ओर एक-एक कदम पीछे हटती गई और कमरे के उस किनारे पर पहुँचकर हाथों से उसने बाँसुरी बनाई और मुँह से लगाकर लीला के कृष्ण की मुद्रा में खड़ी हो गई। देखते-देखते एकाएक फिरकी लेकर नाच उठी,......कभी कृष्ण और कभी राधा बनकर इस प्रकार वह रास के अभिनय में फिरकती रही।

मिनट-पर-मिनट होते गये। दीनानाथ चित्र-लिखा-सा सब देखता रहा। नाना भङ्गिमाओं में तुड़ती-मुड़ती वह नारी उसके मोह और रोष का कारण बन रही थी। वह उसके रूप में न अटककर उसके सत्य को पहचानना चाहता था; पर रह-रहकर वह रूप ही सत्य बनकर उस पर छाया जा रहा था।

देखते-देखते अकस्मात् दीनानाथ के मुँह से निकला, "वाह!"

सुनते ही उर्मिला शर्माकर एकदम रुक गई। लाज में लाल पड़कर रुकती हुई बोली, "नहीं-नहीं, घुँघरू तो है नहीं।"—अनन्तर वह अपने स्थान में ठहरी न रह सकी, भागी हुई आई और मुँह को हाथों में छिपाकर सोफे पर औंधी पड़ गई।

दीनानाथ कुछ क्षण कुछ न समझ सका। अन्त में उसने कहा, "उर्मिला !......उर्मिला !"

देखा, उसके सम्बोधन पर उर्मिला और सिसकने लगी है।

दीनानाथ ने इस बार डपटकर कहा, "उर्मिला ! क्या है ?"

उर्मिला ने सिर ऊपर नहीं उठाया, उसकी सिसकी जारी रही। दीनानाथ में अपने से रोष बढ़ आया। अपनी जगह से वह डिगना नहीं चाहता था। कठोर भाव से उसने कहा, "उर्मिला, सीधे बैठो, बात कहो जो कहनी है।

उसी तरह मुँह छिपाये सुबकती पड़ी उर्मिला ने कहा, "आपके काम में देर होगी, आप जा सकते हैं।"

"छोड़ो, बात कहो अगर कहनी है।"

"कुछ नहीं कहनी।"

दीनानाथ कट आया। कहा, "उर्मिला नखरे न करो, कहना है कुछ तो सीधा कहो, नहीं तो तमाशे के लिए मैं नहीं हूँ, मुझे जाना है।"

"जाइये।"

"जाइये।" सुनकर दीनानाथ चला नहीं गया। वह पास आया, अपने दोनों हाथों से उर्मिला का सिर उठाया और उसे अपने घुटने पर टिकाकर झुककर कनपटियों पर हौले-हौले थपकाते हुए कहा, "छीः, जी हारते हैं। मैं तो तुम्हें बहादुर समझता था।"

उर्मिला अपने आँसुओं के बीच भी मुस्कराई, और व्यङ्ग से बोली, "बहादुर !"

दीनानाथ अब उसे सीधा बैठे छोड़कर अपनी जगह आ गया था। उसने कहा, "हाँ, तुम बहादुर हो, उर्मिला ! और हारोगी नहीं। क्यों, क्या है ?"

"उन्होंने निकाल दिया।'

"क्या मतलब ? निकाल दिया ? अपने हाथ से घर को दूर कर दिया ? नहीं ऐसा तो वह नहीं है।"

"जी, ऐसे वह नहीं हैं।" उर्मिला के अतिशय तिक्त स्वर से दीनानाथ को धक्का लगा। उसने कहा, "ठीक बताओ, हुआ क्या ?"

"कहती तो हूँ। उन्होंने निकाल दिया। बताइये अब मेरा क्या होगा ? क्या आप कुछ बन्दोबस्त कर सकते हैं ?"

"कर यह सकता हूँ कि उसे बुला कर देखूँ। तुम लोगों में कोई बनबनाव हो सकता है कि नहीं।"

"आप कुछ नहीं कर सकते ?"

दीनानाथ ने कहा "मैं ?"

"मेरा कोई कहीं कुछ भी बन्दोबस्त नहीं कर सकते ?"

दीनानाथ ने फिर वही विस्मय से कहा, "मैं ?"

"जाइये, आप कुछ नहीं कर सकते। सुनिये, मैं आपके छः सौ रुपये जल्दी ही लौटा दूँगी।"

दीनानाथ ने ज़ोर से डाँट कर कहा, "कैसे छः सौ रुपये ? पागल तो नहीं हो गई ?"

उर्मिला ने कहा, "देखिये, मैं आपसे कहती हूँ, उन्हें आगे कभी रकम मत दीजियेगा।"

दीनानाथ ने शासन के स्वर में कहा, "उर्मिला !"'

उर्मिला बोली "आप जानते नहीं, वह इसी तरह डूब रहे हैं। आप उनको और मुझ को उबारना चाहते हैं तो पैसा कभी उनके हाथ में न दीजियेगा।"

दीनानाथ ने अत्यन्त क्रुद्ध भाव से कहा, "उर्मिला! तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। होश में बात करो। उसका सब खर्च

तुम्हारे लिए है। दीवालिया बना है या बनेगा, तुम्हारी खातिर। फिर उस पर दोष रखते तुम्हें शर्म नहीं आती ?"

"शर्म !"

कहकर उर्मिला खिलखिला कर हँस पड़ी। अन्त में बोली, "आप मुझे बेच नहीं सकते हैं, खुद खरीद नहीं सकते हैं ? क्या यह शर्म की बात है ? बोलिये, मैं गाऊँ ? नाचूँ ? लाईट ? क्लासिक कहिए, देखेंगे ?"

दीनानाथ ने घृणा से भरकर कहा, "स्वाँग न करो और बताओ तुम्हारे पास इस समय कितना रुपया है ?"

उर्मिला इस पर बड़ी खुश हो कर अपनी जगह से उठी और बक्स में से पर्स निकाल कर दीनानाथ की गोद में डाल दिया, और कहा, "सब इसमें है।"

दीनानाथ ने सब नोट निकाल कर गिने, कुल साढ़े सात सौ रुपया था। पूछा, "सब वहाँ से लाई हो ?"

अजब ढंग से उर्मिला मुस्करा कर बोली, "नहीं, कमाया है।"

"बनो नहीं, ठीक बोलो, कितना रुपया उसने दिया था ?"

"क्यों मैं कमा नहीं सकती ? आपको कुछ भी मालूम नहीं है, कपूर साहब ! मैं रुपयों के ढेर लगा सकती हूँ। मैं...मैं...लेकिन छोड़िए, मैं पतिव्रता नारी हूँ। मैं माँ हूँ। मैं गृहिणी हूँ। मैं रोटी बनाती हूँ, सफाई करती हूँ, बरतन घिसती हूँ, कपड़े धोती हूँ, पति की पद-रज लेती हूँ...'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे, पग घुँघरू...' नाच मैं सकती हूँ, पर मैं मीरा नहीं हूँ, पतिव्रता हूँ।"

उर्मिला की बहक देखकर दीनानाथ ने डाट कर कहा, "सुनती हो, मैं क्या पूछ रहा हूँ ? कितने रुपये उसने दिये थे।"

"क्या आप चाहते हैं, मैं हँसूँ नहीं ? नाचूँ नहीं ?"

"सब नाच हँसी रुपये से हैं ? पूछता हूँ वह बताओ ? कितने रुपये उसने दिये थे ?"

सहसा गम्भीर बन कर उर्मिला बोली, "चौदह सौ ।"

"कहाँ से आये थे ?"

"मालूम नहीं ।"

"अनुमान भी नहीं ?"

"है, आप से लिये गये थे ।"

दीनानाथ ने जोर से कहा, "तुम कुछ नहीं जानतीं, तो ?"

सौ-सौ के पन्द्रह नोट थे । मुझे देकर उन्होंने कहा, "यह तुम्हारे हैं । इनमें से चाहो तो एक मुझे दे सकती हो ? मैंने एक नोट उन्हें दे दिया । उसके दूसरे रोज नौ सौ रुपया मैं साथ लेकर यहाँ चली आई हूँ । छः सौ आपके हम पर पहले चाहियें । क्या यह नौ सौ और आप उन्हें भेज सकते हैं ? मैं उनके एहसान में नहीं रहूँगी ।"

दीनानाथ यह सब सुनता हुआ बैठा रहा । अन्त में उसने कहा, "सुनो, उर्मिला ! यह झूठ है कि मेरा कोई रुपया तुम लोगों पर आता है । मैं वह रोग नहीं पालता । सहायता या उपकार में मैं विश्वास नहीं करता । रुपये का देना मैंने नहीं सीखा । पति का एहसान छुड़ाने के लिए रुपया मुझ से लोगी, क्यों ?"

"हाँ, हाँ, क्या मैं इस लायक नहीं हूँ ? क्या आप प्रेम—"

दीनानाथ हँसा, बोला, "इसी से एक पैसा तुम्हारे लिए खर्च नहीं कर सकता । प्रेम कौन करता है ? मैं ? देखती तो हो, मैं लखपति हूँ, करोड़पति होने की तरफ बढ़ रहा हूँ । ऐसा आदमी प्रेम खरीद सकता है, उसे प्रेम करने की जरूरत नहीं होती । इस तरह मैं प्रेम से सदा के लिए मुक्त हूँ । मेरी यह सारी व्यावसायिक

सफलता, मेरा कितना बड़ा दुर्भाग्य है, यह तो मैं ही जानता हूँ। इसलिए मुझ से ऐसी बात न करना ।"

देखते-देखते उर्मिला अपनी जगह से उठ आई और दीनानाथ के पाँवों तले बैठ कर उनके घुटनों में अपना मुँह छिपाते हुए बोली, "मुझे माफ करो...माफ करो ।"

दीनानाथ ने शासन के स्वर में कहा, "उर्मिला, अलग बैठो ।"

सुनकर और ज़ोर से उसने उन घुटनों को अपने अलिंगन में कस लिया और सिर गाड़ कर वहीं सिसक उठी ।

दीनानाथ अपनी जगह कुछ देर बँधा बैठा रहा । जी हुआ कि इस अपदार्थ मायाविनी नारी को अपने पैर से झटक कर दूर कर दे । जी हुआ कि उसे नसीब पर धीमे-धीमे थपक कर, कहे 'नहीं ! नहीं ! रो नहीं, रोते नहीं ।' मैं नहीं जानता था कि वह क्या चाहती है । इस नारी का पति उसका अत्यन्त स्नेहभाजन है । कुछ नहीं है जो वह इस अपनी पत्नी के लिए नहीं कर सकता । पर यह है कि उससे स्नेह नहीं चाहती, अपमान चाहती है । पति का प्रेम ही इसे अपने से और उससे विरुद्ध डालता है । क्योंकि एक दीनानाथ है, जो लखपति भी है । दीनानाथ ने यह सोचा और एक कठिन और क्लिष्ट भाव से वह भर आया उसने कहा, "उर्मिला, तमाशा न करो अलग बैठो ।"

सुन कर, नहीं, वह अलग नहीं बैठी ।

दीनानाथ ने झींक कर तैश के साथ कहा, "सुनती नहीं हो ? फिर मुझे दोष न देना ।"

अब उर्मिला ने उन घुटनों से अपना मुँह ऊपर उठाया ।

दीनानाथ ने देखा कि बाल उसके बिखर आये हैं। माथा बहुत कुछ ढँक गया है, आँखों में याचना है । वे आँखें आँसुओं से

अभी धुलकर चुकी हैं और भीगी हैं। मुँह ऊपर होकर जैसे स्वीकृति की प्रतीक्षा बना टिका है। चिबुक के नीचे की गरदन बेहद सफेद है। वक्ष का उभार सर्वथा आवृत नहीं है।

देखकर दीनानाथ अकारण आवेश से भर आया। उसके घुटनों की जकड़ बनी, स्कन्ध-मूल तक खुली हुई, उस भरी और गोरी बाँह को मुट्ठी में पकड़ कर जोर से अलग खींचते हुए कहा, "चल हट दूर होती है कि नहीं, मायाविनी।"

उर्मिला इस बार आसानी से दूर हो गई। माथे के ऊपर आये हुए बालों के नीचे उसकी भौंहों पर कोई वक्र नहीं पड़ा। कोई अप्रसन्नता वहाँ नहीं दीखी, उल्टे वह चेहरा तृप्ति व सन्तोष से मुस्करा आया।

दीनानाथ अपने से झगड़ता हुआ उठा और बोला, "मुझे अब जाना होगा। देर काफी हो गई है।"

उर्मिला ने सहमत होकर कहा, "अच्छी बात है।" और कहते ही दीनानाथ को बढ़ता हुआ देख दौड़ी हुई वह दरवाजे पर पहुँच गई। झट से उसे बन्द कर अपनी पीठ से रास्ता रोक, दीनानाथ के सामने के लिए वह खड़ी हो गई। उसका उठता गिरता वक्ष, हाँफती साँस और शरारत से हँसता हुआ मुँह देखता हुआ दीनानाथ क्षण भर ठिठका रह गया। फिर तेजी से लौटकर वह पीछे वाले दरवाजे की ओर बढ़ा। पलक मारते में उर्मिला उससे पहले ही उस द्वार पर जा पहुँची और चटखनी को अपने शरीर से रोकते हुए उसी प्रकार दीनानाथ के सम्मुख जम गई। यह कमरा अँधेरा था। दीनानाथ को सही-सही कुछ दीख न पाता था; बस उर्मिला की आँखें साफ झलक रही थीं और लिपस्टिक से रँगे ओठों को लेकर उसका मुँह ऊपर उठा दीखता था।

दीनानाथ ने कहा, "उर्मिला जाने दो।"

"जाओ न।"

"हटो सामने से।"

"नहीं हठती, जिसे जाना हो जाए।"

दीनानाथ अवश हो आया। उसने कहा, "तुम मुझे देवता न समझो, उर्मिला ! न निर्मम। मैं कमजोर आदमी हूँ। आखिर तुम मुझ से क्या चाहती हो ?"

उसने पाया कि उत्तर में दो बांहें बढ़ कर उसके गले में पड़ गई हैं। उसका साँस तेजी से चलने लगा। उसने अपने साथ जल्दी मचा कर कहा "तो चाहती हो अभी न जाऊँ ? लो नहीं जाता।"

कहकर उन बाँहों में से अपने को तुड़ा कर तेजी से चलता हुआ वह पहले वाले कमरे में आ गया। जल्दी-जल्दी उसके दरवाजे खोले, खिड़कियाँ भी खोलीं, और फिर उसी अपने कौच में आन बैठा।

बैठे-बैठे उसने कमरे को चारों तरफ से देखा, अन्त में उसकी निगाह सामने मेज पर रखे कृष्ण जी के उस चित्र पर जा टिकी जिसके आगे फूल पड़े थे।

चार, पाँच, सात मिनट तक कोई उस कमरे में नहीं आया। अनन्तर उर्मिला बराबर के कमरे से वहाँ आई तो बदली हुई थी। मेकअप बिलकुल नहीं रह गया था, पोशाक में सादा साड़ी ही थी। माथे में चन्दन की बिंदी, पावों में चप्पल और बाल एक सीधे जूड़े में बँधे थे।

दीनानाथ ने कहा, "आओ, देखो, कैसी भली लगती हो।" उर्मिला गम्भीर भाव से हँसती हुई आकर सोफे पर बैठती हुई

बोली, "मैं आपको भी छल सकती हूँ! क्योंकि वह तो मुझे मानते ही अच्छी हैं। आपको क्या बुरे होने में विश्वास नहीं हो सकता है?"

दीनानाथ ने कहा, "कैसे जानती हो कि मुझे वह विश्वास नहीं है? मैं तुमसे डरता हूँ। स्त्री शैतान होती है। तुम तो और भी।"

उर्मिला खिलखिला कर हँसी, बोली, "मेरे पतिदेव को आप मेरे शैतान होने का विश्वास करा दे सकें तो मैं आपकी बड़ी कृतज्ञ हूँगी। वह मुझे इतना प्यार करते हैं कि मैं चाहती हूँ कि किसी भीं तरह उनकी नफरत की पात्र बन सकूँ। मेरा प्यार उन्हें बिगाड़ रहा है। वह किसी काम के जो नहीं रह गये हैं। वह सब मेरी वजह से। चाहती हूँ मुझसे ऐसा पाप हो कि वह जाने और मुझे पीटने लग जाएँ। उनके प्यार से मैं इतनी थक गई कि अब तो चाहती हूँ उनकी मार मुझे मिलने लगे। पर आप यह क्या देख रहे? सच बताइये लन्दन कब जा रहे हैं?"

"तुम से यह किसने कहा?"

"उन्होंने ही कहा। मुझे साथ ले चलिएगा न? सेक्रेटरी बना कर ले चलिए, क्यों? क्या नहीं ले चलिएगा? बोलिए? कहिए।"

दीनानाथ और कुछ नहीं तो असमन्जस में हँसता हुआ बैठा था। एकाएक वह कुछ बोला नहीं। अन्त में उसने कहा "ना, बाबा ना।"

"मैं इतनी खराब हूँ?"

"इतनी कितनी?"

"जितनी कि आप नहीं चाहते।"

दीनानाथ ने कहना चाहा कि उर्मिला तुम समझोगी नहीं....

लेकिन बीच में उर्मिला बोली, "मैं खराब नहीं, लेकिन कुछ दिन पति से अलग और दूर मैं नहीं रहूँगी, तो मुझे सन्तोष न होगा। तभी वह अपना काम देखने लायक बनेंगे। बोलिये, ले चलियेगा?"

दीनानाथ ने कहा, "यहाँ तुम कितने दिन के लिये हो और किस ख्याल से आई हो?

"आई थी कि अपने को आप पर छोड़ दूँ, फिर लौटने की मेरे लिये जरूरत न रहे।"

"अब तो वह ख्याल नहीं है?"

"अभी तक आपने नहीं कहा है कि आप मेरा कुछ भी इन्तज़ाम नहीं कर सकते।"

"कैसा इन्तज़ाम?"

"जैसा भी आप चाहें। न अपने यहाँ तो किसी मित्र के यहाँ। सच कहती हूँ कि यह एकदम जरूरी है कि मैं उनसे अलग रहूँ। वह मुझे इतना चाहते हैं कि हम दोनों ही उस चाह में घुट कर मर रहे हैं। मैं अपनी सूरत को कहाँ ले जाऊँ जो अब तक खूबसूरत बनी है। हाय, मुझे और सब स्त्रियों की तरह सामान्य बनना क्यों नहीं मिला? क्यों इतना रूप मुझे दे दिया गया? दिया भी तो अब तक मुझ पर से वह खिसकता क्यों नहीं, उम्र तो मेरी काफी हो चुकी है।"

दीनानाथ ने कठिन व्यङ्ग से कहा, "तो तुम सामान्य नहीं हो?"

उर्मिला इस पर खुले भाव से बोली, "कहिए कि मैं सामान्य हूँ। कहता है आपका मन कि मैं सामान्य हूँ?"

दीनानाथ ने झींककर कहा, "छोड़ो, बताओ, वापिस तुम्हें अपने पति के पास भेजने के लिए मैं क्या कर सकता हूँ?"

"तो अपने पास मेरा कोई इन्तज़ाम नहीं कर सकते ?"

"चुप रहो। अभी तार देने से कल तक वह आ जायगा। सुनो, तुम दोनों को साथ रहना है। अपने लिए नहीं तो बच्चों के लिए। तुम्हें ख्याल नहीं है कि तुम चली आई हो तो बच्चे पीछे क्या कहते होंगे ?"

उर्मिला ने दोनों हाथों से अपना मुँह ढका और कठिन पीड़ा की वाणी में बोली, "हाय आप भी तो नहीं समझते ! क्या कोई मुझे नहीं समझेगा ? आप तो कभी कवि थे, पर छोड़िये, शायद अन्तर्यामी भगवान् के सिवाय कोई किसी को नहीं जानता।"

दीनानाथ उस कातर वाणी को सुनकर चमक आया। इस स्त्री की एक भी बात को वह कभी प्रकृत नहीं मान सका था, लेकिन इस पिछली बात में बजते हुए व्यथा के स्वर को वह किसी भी तरह अनपहचाना न कर सका। उसने कहा, "उर्मिला, मैं शायद नहीं समझता। लेकिन क्या तुम इस बात को समझोगी कि मेरे आस-पास की सफलता और सम्पदा निरा मेरा व्यङ्ग है। वह मैं नहीं हूँ। वह मात्र आडम्बर है। तुम्हारी आँखों में उसकी असलियत है। अगर वह असल है तो मैं एकदम नकल रह जाता हूँ। इस नकली आदमी को ही शायद तुम जानती हो। शायद हो कि चाहती भी हो, पर क्या तुम्हें मालूम है उर्मिला ! कि मैं अनाथ बालक था। कितना तब जगत से लतिआया और दुरदुराया गया हूँ, इसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकतीं। मैं भीतर से वही निरीह और आवारा आदमी हूँ। उस अपनी सचाई को इसी के लिए ढके फिरता हूँ कि वह किसी के लिए रुचिकर न होगी। नकली आदमी बन कर जगत् से व्यवहार चलाने में आसानी होती है। वहाँ मन नहीं। आदमी का मान पूछा जाता है, पर जब

मेरी माँ मरी तो क्या मैं उसे ढकने को कफ़न पा सका था? इसलिए मुँह छिपा कर मैं वहाँ से भाग खड़ा हुआ था। उनका क्रिया-करम सुना है पास-पड़ोसियों ने किया। मरते वक्त की माँ की निगाह मुझे याद है। वह निगाह मुझे हर वक्त चुभती रहती है। उसमें अमित दैन्य, अमित याचना भरी थी, और मैं दो पैसे की दवा का उनके लिए बन्दोबस्त नहीं कर सका था। उर्मिला, असली मैं वही हूँ। आज नहीं जानता कि तुम्हारे सामने वह सब मैं क्यों कहने बैठ गया। लेकिन वह भ्रम जो मेरी नामवरी ने जो तुम्हारी आँखों में भर दिया है, मैं उसे तुम्हारे साथ सफल हुआ नहीं देख सकता। इसलिए माफ करना, तुम्हें अपने से कोई आशा रखने का मैं अवसर नहीं दे सकूँगा। तुम सफलता चाहती हो, नाम चाहती हो, प्रसिद्धि चाहती हो, तुम रूपसी हो, युवति हो, विदुषी हो, कलावन्त हो सब-कुछ तुम्हें मिल सकता है, लेकिन उस सब में मेरे लिए कहीं स्थान नहीं है। उस ऐश्वर्य की दुनिया में मेरा शव ही रह रहा है। मैं अपनी निरीहता में बन्द हूँ, और उस सब से मुझे कुछ वास्ता नहीं, सुनती हो। उससे मुझे कुछ मतलब नहीं। इसलिए इस मुझ अभागे से तुम किसी सहारे की आस न रखना। मेरी पत्नी है, बच्चे हैं, लेकिन तुम्हें कहता हूँ मेरा कोई नहीं है। उसका, जिसका कोई नहीं है, भला कोई क्यों बने! माफ करना, उर्मिला, तुम्हें मेरे दुर्भाग्य का पता नहीं है, इसी से शायद तुम्हें माफ करने में कठिनाई हो रही है, लेकिन..."

दीनानाथ कहे जा रहा था। अब उर्मिला की ओर उसका ध्यान गया। उसकी दोनों आँखों से आँसू की धार बह रही थी। और वह अचल पत्थर की मूर्ति बनी बैठी थी। देखकर वह स्तब्ध हो आया। आगे उससे कुछ कहा नहीं गया। उर्मिला के उस चेहरे

को वह आतंक से, अभीप्सा से, अभिलाषा से देखता रह गया। उस चेहरे ने कहा, "माँ तुम्हें क्या कहती थी ?"

"दीनू।"

"तो दीनू ! मैं लौट जाऊँगी, लेकिन क्या सच तुम्हारा मन कहता है कि मैं तुम्हें नहीं तुम्हारे धन को देख रही थी ? ओह, कैसे बताऊँ कि पहले दिन ही मैंने तुम्हारी आँखों में देख लिया कि तुम इस दुनिया में अकेले बेहद अकेले हो। उसी क्षण से मैंने अपने लिए जान लिया कि तुम्हारे अकेलेपन को मैं अणुभर बँटा सकूँ तो उसके लिए पाप की सहस्रों वैतरणी करने से मैं नहीं बचूँगी...दीनू, तुम को अपना मुँह खोलकर यह कभी मुझे कहना होगा कि यह सपने में भी न सोचा था। आज मेरी ग्लानि का ठिकाना नहीं है। अपने रूप की सज्जा तुम्हें छलने के लिए मैंने की थी। जानती थी कि तुम ले जाने-वाले नहीं हो, पर हाय छलने जाकर मैं ही छली गई कि तुमने समझा मैं रूपसी हूँ और कुछ नहीं।"

कह कर उसने दीनानाथ के निश्चेष्ट पड़े हाथ को अपने हाथ में लेकर अत्यन्त नम्र अभ्यर्थना के भाव से माथे से लगाया और कहा, "दीनू...सच कहती हूँ, वह मायाविनी मैं न थी। वह थी तो व्यंजन की भांति तुम्हारे समक्ष परोसे जाने के लिए ही थी। मैं तो अपने में सिर्फ परोसने वाली थी। समझते तो हो न दीनू ?

"अब निश्चिन्त रहो और जाओ मैं आज ही लौट जाऊँगी और आगे कभी तुम कुछ शिकायत न सुनोगे।"

दीनानाथ इसके लिए तैयार न था। वह भीतर तक भीग आया था। उसने अब उठते हुए उसी भाँति उर्मिला का हाथ लेकर माथे से लगाया और कहा, "उर्मिला, भगवान् से प्रार्थना है कि

तुम सदा सौभाग्यवती रहो।" कहने के बाद वह ठहरा नहीं। विदा लेकर धीमे और स्थिर कदमों से बाहर की ओर बढ़ता चला गया।

और उर्मिला को ऐसा लगा कि अगर घुँघरू होते तो वह इस समय ऐसा नाचती...ऐसा नाचती...ऐसा नाचती कि उस नाच से अलग वह स्वयं में कहीं शेष हो ही नहीं।

अकेला

"मैं उनसे मिलकर ही आ रहा हूँ," मित्र ने कहा, "एक तरफ उड़द भीग रहे थे, वहीं कच्ची मूँगफली, इमली की पत्तियाँ और डंठल-समेत दो मूली रक्खी थीं। यह उनका भोजन था। हमारी पुरानी जान-पहिचान है। इससे घुलकर बातें हुईं। उन्होंने सब सुनाया कि कैसे—"

मेरे मन में इन तपस्वी के बारे में जिज्ञासा थी। उनके सम्बन्ध में जितना पढ़ा उससे अधिक सुना है। इससे मैंने मित्र से उत्सुकता से पूछा, "उनसे आपका कब से परिचय है? कैसे हुआ? साधु वे कब बने?" इत्यादि।

मेरे बहुत-से प्रश्नों का उन्होंने क्या उत्तर दिया उसे बताने से पहले मित्र का परिचय देना आवश्यक है। मित्र मेरे हितैषी हैं, बुजुर्ग हैं, पर बराबरी का सम्बन्ध मानते हैं; बल्कि मेरा आदर करते हैं। मेरे कारण वह आदर नहीं है, उनका स्वभाव ही दूसरों का आदर करना है। सच तो यह कि मैं उनके सामने लज्जित होता हूँ। वे अतिशय सेवाभावी, तत्पर और कर्मण्य हैं। बीच में गृह-त्याग कर निस्पृह लोक-सेवक हो गए थे। इस अनुभव में लगभग

बीस वर्ष उन्होंने दिये। इस बीच में उनकी पुत्रियाँ पत्नियाँ हो गईं, और पत्नी पौढ़ा हो गई। अन्त में समय आया और प्रतीत हुआ कि अब उस प्रयोग की अवधि आ गई है। जीवन की परिपूर्णता उस राह नहीं है, यह दीखने लगा। औरों से कटकर अकेला बना जाता है, और अकेला होकर व्यक्ति ह्रस्व होता है। जगत् को अपनाने के लिए परिवार को पराया बनाना सही नहीं है।

अनुभव का परिणाम उन्होंने पत्नी को सुनाया तो वह सहमत न हुई। पत्नी की सम्मति थी कि बढ़ा क़दम वापस नहीं हो सकता। अब फिर गृहस्थी में पड़ो, ऐसी तुम्हें क्या ज़रूरत है?

मित्र ने कहा, "मैं अपने प्रति ईमानदार रहना चाहता हूँ, इस लिए अकेला नहीं रहना चाहता।"

पत्नी ने कहा, "तुम जहाँ तक उठे, वहाँ से तुम्हारी स्मृति को मेरे लिए नीचे उतारना सम्भव नहीं है। बीस बरस तुम्हारी जिस उन्नत मुद्रा का ध्यान करके मैं जीती रही हूँ, जीवन के शेष वर्ष भी उसी तरह बिता ले जाऊँगी। अन्त समय तुम स्वयं उस जगह से उतरना चाहोगे इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती।"

एक प्रकार से अपना ही किया मित्र के सामने आया। ब्रह्मचर्य, परिवार-त्याग, अर्थ-निवृत्ति और अखण्ड-सेवा के आदर्श को एक दिन उन्होंने ही पत्नी में जगाया था। उस पति की सीख को, फिर भरपूर चेष्टा से, उस पतिव्रता नारी ने व्रत की भाँति अपने भीतर गहरा उतार लिया। तब वह कुछ समझी थी, कुछ नहीं समझी थी। पर मन में मानती थी कि जो ये करेंगे उसमें मेरा कल्याण है।

एक दिन प्रति प्रस्थान को उद्यत हुए। पत्नी ने कहा, "तो और तो सब ठीक है, लेकिन इन लड़कियों का क्या होगा ?"

पति ने कहा, "सबका योग-क्षेम वहन करने वाला तो भगवान् है। उसकी सामर्थ्य में शङ्का करती हो ?"

पत्नी ने माना कि पति की बात ठीक ही है। भगवान् है और वही मुझे पार लगायगा। यह सोचकर उसने पति के चरण छू लिये। पति उस कल्याणीया के मस्तक पर आशीर्वाद-पूर्वक हाथ रखकर विदा हुए। उसके बाद की कथा पत्नी ने पति को नहीं सुनाई। वह कुछ छोड़ नहीं गए थे। फिर किस तरह घर का काम चलता रहा और पुत्रियों का विवाह हो गया ? बीस वर्ष बाद लौटकर पति ने भी इस बारे में कुछ नहीं पूछा। पति को लज्जा थी। वह उस समय अपनी उस गत-यौवना, पत्नी के प्रति कृतज्ञता से भीगे थे, और यदि अब फिर साथ रहने का प्रस्ताव उनकी ओर से आया था भी तो उसमें यह भावना भी थी कि वह अतीत की कुछ क्षति-पूर्ति कर सकें और उस वंचिता नारी को अन्त समय कुछ सुख दे दें। एक प्रकार वह प्रायश्चित्त करना चाहते थे।

किन्तु पत्नी ने अपना सुख नहीं देखा। उसने पति का मान देखा। कहा, "जिस भारतमाता के बन्धन तोड़ने आप गये थे, वे नहीं टूटे हैं। उससे पहले आपको इस अभागिन की याद क्यों आ गई ? अब तक अपने दुर्भाग्य में भी वह सुख मुझे था कि मेरे पति कर्त्तव्य-पथ पर बलि होने गए हैं। आज क्या वह सौभाग्य भी मेरे माथे पर नहीं रहेगा ? नहीं, मुझसे असम्भव न माँगिये।"

पति ने समझाकर कहा, "मैं हारा नहीं हूँ, प्रिये, लौट नहीं रहा हूँ। अपने हिसाब से आगे ही चलने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ। अपने विरोध में कुछ नहीं होता। मैंने शायद वही

करना चाहा। आज दीख गया है कि वह मेरा भ्रम था। राष्ट्र के प्रति जो भी धर्म हो, सत्य के प्रति व्यक्ति का धर्म सनातन है। अर्थात् अपने प्रति झूठा आचरण करके किसी का कुछ भला नहीं किया जा सकता। तुम्हारे सामने यह कहते मैं लज्जा नहीं करूँगा कि जहाँ रहा हूँ तुम्हारी याद मुझसे दूर नहीं हुई है।"

पत्नी ने कानों पर हाथ रखकर कहा, "शिव! शिव!"

पति कहते रहे, "जागते में यदि दूर रख पाया हूँ तो सोते में वह स्मृति उतनी ही मुझसे घनिष्ट होकर चिपटी रही है। फिर भी मैं बीस वर्ष काट गया। मान के बन्धन सहज नहीं गलते। बीस वर्ष में भी वह पूरी तरह गल गए हैं यह नहीं कह सकता। लेकिन यह बात तो सच है कि ये सब वर्ष मिथ्या के आधार पर ही मैंने बिताए थे। इन वर्षों ने मुझे बहुत मान दिया, यश दिया, लोकपूजा दी। तुम उसी लोकपूजा के स्वीकार में मुझको इन्कार करना चाहती हो? मैं तुम्हें दोष नहीं दूँगा। मैं स्वयं इस मिथ्या को अपने भीतर के सत्य के इन्कार पर इतने काल अँगीकार करता रहा। किंतु आज अपने महिमामय रूप को एक क्षण के लिए भी तुम्हारे सामने मैं सत्य रहने देना नहीं चाहता हूँ। उस झूठ को तुम्हारे आगे स्वयं ही तोड़ सकूँ इसलिए मेरा आना और भी जरूरी था। आज मैं अकिंचन, निर्बल, प्रार्थी; पर सच्चा बनकर तुम्हारे सामने हूँ। कभी तुम्हें शिक्षा देने का दम यदि मुझ में था तो आज उसीका प्रायश्चित्त करने की भावना है। तुम यदि तिरस्कार करोगी तो मुझे क्षोभ नहीं होगा। पर यदि स्वीकार—"

पत्नी सुनते-सुनते रो उठी। बोली, "दुनिया क्या कहेगी? नहीं, मैं नहीं—"

पति ने कहा, "झूठ के एक डन्डे पर पैर रखकर दुनिया की

आँखों में मैं ऊँचा चढ़ा इससे मेरे लिए तो और जरूरी है कि एक-एक करके नहीं, बल्कि एक बार ही वहाँ से गिरकर मैं धूल पर आ रहूँ। दुनिया की आँखों से सत्य की आँखें दूसरी हैं, देवी! वह ऊपरी को नहीं देखतीं, भीतरी को भी देखती हैं। वही कुल को देखती हैं। मुझे तो लग रहा है अब उन आँखों से मेरा छुटकारा नहीं है। इसलिए दुनिया क्या कहती है, सो सुनने की मुझे प्रतीक्षा नहीं है। अपनी गृह-देवी के द्वार पर मैं तो आ लगा हूँ कि वह मुझे क्या आज्ञा देती है!"

पत्नी ने रोते हुए कहा, "मुझे नरक में न घसीटो। मेरी बात नहीं है। लेकिन तुम्हारे बारे में एक भी हल्की बात मैं किसी तरह न सुन सकूँगी। तुमको मालूम नहीं, कि तुम क्या कह रहे हो? मैं सदा तुम्हारी हूँ। लेकिन साथ कैसे रह सकती हूँ—?"

पति ने कहा, "तो मेरे लिए आज्ञा है, मैं अकेला रहूँ?"

पत्नी ने कान पर हाथ रखकर भगवान् का स्मरण किया, कहा, "शिव! शिव!"

पति ने कहा, "अकेला मैं नहीं रह सकता, प्रिये! तुम्हें क्या बताऊँ। बीस वर्ष हो गए—अकेला रहना मेरे लिए अधर्म है।"

पत्नी रोती हुई वहाँ से उठ गई।

पति कुछ देर शून्य-भाव से वहाँ बैठे रहे, अनन्तर चले आए।

वही मेरे मित्र हैं और अब भी अकेले हैं।

आगे फिर—

समाप्ति

बात हा पड़ी कि कोयले के भीतर आग है, या वह कोयले के बाहर है ?

एक ने कहा, "अगर कोयले के अन्दर आग न होती तो वह कैसे जल सकता था। जब आग अन्दर ही नहीं है तब किसी प्रकार किसी प्रयोग से वह बाहर कैसे आ सकती है ?"

दूसरे ने कहा, "अगर यह बात है तो कोयला ही आग क्यों नहीं है। हमारे घर में ढेर-का-ढेर कोयला पड़ा है और एक बच्चा भी उससे खेल सकता है। लेकिन अगर आग जरा भी हो तो मजाल है कि कोई उसे छू भी सके ?"

मेरे देखते-देखते दो मित्रों की बात बहस बन गई। और जल्दी ही वह बहस गरम हो आई। गरम ऐसी कि पता चलना मुश्किल हो गया कि दोनों मित्र हैं कि शत्रु।

एक कहता, "आग है।"

दूसरा कहता, "आग नहीं है।"

पहला, "तुम कुछ नहीं जानते।"

दूसरा, "तुम बेवकूफ़ हो।"

पहला, "बेवकूफ़! तुम गधे हो।"

दूसरा, "गधा? ज़रा फिर तो कहना"—

देखता क्या हूँ कि बात-बात में आस्तीन चढ़ने की नौबत आ गई है। कोयले में आग हो-न-हो, पर उसके होने-न-होने को लेकर यहाँ सचमुच ही कहीं वह न हो पड़े!

मैंने कहा, "सुनो भाइयो, चार बज गए। अब उस पार्टी में चलना है कि नहीं? चलो, तैयार हो जाओ।

हम सभी को एक पार्टी में जाना था। मित्र आये थे कि सब साथ-साथ चलेंगे। लेकिन हमारी मण्डली का हरेक आदमी स्वाधीन चिन्तक है। इसलिए हमारे बीच में जब हाहा-हीही नहीं होती, तब बहस हो जाती है। अभी यह कोयले की बात आपने सुनी। लेकिन कभी परमात्मा की बात बीच में आ जाती है, कभी समाज-सरकार की, कभी इसकी, कभी उसकी। पर बात का आदि परमात्मा की सृष्टि से आरम्भ हो कि पत्थर-कोयले की आग से, इति सदा गर्मा-गर्मी में होती है। माथा जा चढ़ता है, अक्सर आस्तीनें आ चढ़ती हैं, और मालूम होता है कि परमात्मा के सृष्टि कर्तव्य का अथवा कोयले में अग्नि की वर्तमानता का सदा के लिए निपटारा अभी-हाल मुक्के के ज़ोर से कर ही दिया जायगा।

ऐसे समय चाय के प्याले या शरबत के गिलास का आगमन, या मिष्टान्न का दर्शन, या किन्हीं महिला की उपस्थिति—आशय कि किसी मार्ग से किञ्चित् रसोपलब्धि हमको सुधि दिलाती है कि मुक्का-मुक्की द्वारा तत्त्व-निर्णय ही काल-यापन का एक उपाय नहीं हैं, अन्य भी अनेक कर्म हैं। जीवन उनसे भी चलता है, बल्कि बहस की जगह उन कामों को करना कुछ करना कहला सकता है। उस समय आस्तीन का चढ़ाव ग़ैर-ज़रूरी हो जाता है, मस्तक खुल जाता

है और मित्र मित्र के मित्र हो रहते हैं।

सो मैंने जब याद दिलाई कि अरे भाई लोगो, पार्टी में चलने के लिए तैयार हो जाओ, मैं श्रीमती को भी कहता हूँ, तब एकाएक तो जैसे वे समझे नहीं। बहस की चहक जो चढ़ी थी। उन्होंने ऐसे देखा, जैसे बेहद जरूरी काम से उन्हें फुर्सत न हो और मुझ पर करुणा करना चाहते हों। मैंने फिर कहा, "देखो घड़ी, चार बजे वहाँ पहुँचना है।"

तब उन्होंने अनायास घड़ी देखी। हठात होश पकड़ा और धीरे-धीरे स्वस्थ हुए। गोविन्दराम ठण्डे होकर कुछ मद्धिम हँसे। बोले, "ठीक तो है अनन्त ! छोड़ो कोयले को। हम भी खुराफ़ात ले बैठते हैं।"

अनन्तराम भी मानो चैन पा उठे। बोले, "ठीक तो है। यह क्या हम फिजूल की बहस ले बैठा करते हैं जी !"

गोविन्दराम अनन्तराम से ज्यादा सही हैं, और ज्यादा बुद्धिमान हैं, अथवा अनन्तराम ज्यादा हैं, यह प्रश्न उस समय महत्त्वपूर्ण मानो रह ही नहीं जाता। मित्र-मित्र बनकर, न छोटे न बड़े, मिले-जुले पार्टी में चले जाते हैं। खुश जाते हैं, खुश आते हैं, और [illegible] रहते हैं।

न- आप कहेंगे, यह तो ठीक है। इन मित्रों की खुशी में हमें भी खुशी है। दोस्त को हम दुश्मन नहीं चाहते। लेकिन प्रश्न है कि क्या तत्त्व-चिन्ता और तत्त्व-निर्णय आवश्यक कर्म हैं या नहीं हैं? क्या सब को सब-कुछ मानने, और सब को सब-कुछ कहने दें ? यह कैसे हो सकता है ! झूठ का निराकरण और सत्य का प्रतिपादन किये बिना क्या हम रह जायँ ? जी नहीं, कदापि नहीं। गोविन्दराम और अनन्तराम अपनी मित्रता को ध्यान में लाकर

तत्त्व-निर्णय की ज़िम्मेदारी से अपने को बचा लें तो बचा भी लें। लेकिन तत्त्वज्ञ उस ज़िम्मेदारी से कैसे बच सकता है? उसे शत्रुता-मित्रता पर तो अटककर नहीं रह जाना है। वह तो तत्त्व की बात बताकर ही छोड़ेगा। चाहे उसमें कोई शत्रु ही क्यों न हो जावे। गोविन्दराम-अनन्तराम दुनियादार आदमी होंगे, जो बहस को किसी निर्णय तक पहुँचाए बिना ही छोड़ बैठें। किन्तु दायित्व का तकाज़ा है कि तर्क को तर्कान्त (लाजिकल एण्ड) तक ले जाना होगा, वहाँ जहाँ फिर अतर्क है। तत्त्वज्ञ भला बीच में कैसे हार बैठ सकता है। क्या बीच में उसे छोड़ देना कापुरुषता ही नहीं हो जायगी! मुष्टि-प्रहार का अवसर आए, तो क्या उससे भयभीत हो जाया जाय?......

इस तरह के सवाल आपके मन में भी उठते होंगे, क्योंकि, वे मेरे मन में उठा करते हैं। बहस के लायक विद्या तो मुझमें नहीं है। उतनी भाषा भी नहीं आती। लेकिन मालूम होता है कि अधिक ज्ञान मुझे होता और भाषा पर भी कुछ प्रभुत्व होता, तो ऐसे-ऐसे प्रबल तर्क अपने तर्कस में से मैं खींचकर निकाल चलाता कि सब-कुछ खण्डित होकर रह जाता और प्रतिपक्षी धराशायी ही दीखता!

पर हाय, मैं अक्षम हूँ। जानता-बूझता बहुत कम हूँ। और जो जानता हूँ, कह उसे भी नहीं पाता। लेकिन सोचा करता हूँ कि जो-कुछ भी मैं ठीक समझता हूँ, क्या सर्वथा वही ठीक नहीं है। तब अन्यथा समझने-वालों को मैं क्यों न उसी (अपनी वाली) ठीक समझ पर लाने की कोशिश करूँ। वे बिचारे भूले हुए हैं, भटक रहे हैं। भूल में अपना अकल्याण कर रहे हैं। गलत को सही

मान रहे हैं। असल में सही क्या है, वह तो मैं जानता हूँ। तब क्यों न चल पड़ूँ और सब को सही राह दिखा डालूँ।

राहें बहुत हैं। जितने धर्म हैं, वे सब मार्ग ही तो हैं। लेकिन वे सब पन्थ झूठे हैं। जो मेरे धर्म का मार्ग है, वही एक सही और सच्चा मार्ग है। वही कल्याणकर है। बाकी धर्म के नाम पर जो रास्ते हैं, वे सीधे अज्ञान में और नरक में ले जाकर पटक देते हैं। वैकुण्ठ धाम को जो सन्मार्ग पहुँचाने वाला है, वह है, जो मेरे धर्म का है। बाकी और पाखण्ड नहीं तो क्या है?

अफ़सोस यही है कि मेरी जुबान में वह ताक़त नहीं है और दिल में वह पक्कापन नहीं है। उस दिन उन मौलाना का लेक्चर सुना था। क्या साफ़ बातें कहते थे! बड़ी-बड़ी सचाइयों पर उनकी जबान ऐसी रपटती चली जाती थी कि दाँतों अँगुली देनी पड़ती। और शास्त्रार्थ में सामने के वह पण्डित—वाह! क्या अगाध गम्भीर ज्ञान! मानो कोई रहस्य उनसे छिपा नहीं है। जो है, उन्हें हस्तामलकवत् है। पण्डितजी को कुरआन के भेद मौलाना से भी अधिक मालूम थे और मौलाना को तो वेदों की असलियत का पूरा-ही-पूरा पता था। एक को मालूम था कि संस्कीरत का ईश्वर कैसे ग़लत है, और दूसरे को ज्ञात था कि अरबीक का खुदा कैसे अज्ञानता है। और दोनों ऐसी-ऐसी ज़ोर की और अकाट्य बातें कहते थे कि जब एक की सुनता था, तब उसके जैसा मैं हो जाता था और दूसरे की सुनता था, तब वही सही मालूम होता था।

भाई, यह दुनिया भी अजब पहेली है। पण्डितों ने और मौलवियों ने उसका पार पा लिया है। और ऐसा मालूम होता है कि उस पहेली का पार पाना है तो पण्डित बनो, या मौलवी बनो। या फिर सीधी राह है कि आँख मूँदकर किसी एक के मुरीद बन

जाओ ; नहीं तो हालत मेरे जैसी रहेगी। दावे के साथ कुछ कहने की हिम्मत ही न होगी और बस नरम बने रहोगे।

लेकिन राह छोड़ हम यहाँ कहाँ आ गए। बात असल पर आवें। गोविन्दराम और अनन्तराम एक रोज़ फिर कोयले को और कोयले की आग को ले बैठे। तब फिर देर क्या थी। मित्रता दो-एक तर्क के झपाटों में ही झट कोयले के नीचे आ रही और दब गई। मामला तूल पकड़ने लगा। गोविन्दराम ने कहा, "तुम कहते हो कि कोयले में आग नहीं है ?"

अनन्तराम ने उतने ही ज़ोर से कहा, "और तुम कहते हो कि कोयले में आग होने के लिए दियासलाई की ज़रूरत नहीं है ?"

गोविन्दराम ने कहा, "अभी तुम्हें बारीक बातें समझने के लिए समय चाहिए।"

अनन्तराम ने कहा,; "ग़नीमत है कि मेरी समझ आप जितनी मोटी नहीं है।"

बात की प्रचण्डता देख मैं चुपचाप उठा। अन्दर से एक कोयला लिया और खरल उठाया। बहस के मौके पर पहुँचकर दोनों चीज़ों को बीच में मेज़ पर रख दिया।

वे बोले, "यह क्या है ?"

मैंने कहा, "यह कोयला है, और ज़रूरत होने पर कोयले को पीसने के लिए वह खरल है। शायद ये चीज़ें तत्त्व-निर्णय में कुछ काम आवें।"

थोड़ी देर बाद अनन्तराम को एक काम की बात सूझी। उन्होंने कोयले को हाथ में उठा लिया और कहा, "यह कोयला है। तुम कहते हो, इसमें आग है।"

गोविन्दराम ने कहा, "ख़ैरियत है कि आग वह प्रगट नहीं है। नहीं तो आप को पता लग जाता।"

अनन्तराम ने कहा, "लीजिये, तो आप इसमें से आग प्रकट कीजिये। देखें कैसे करते हैं! क्या इसे तोड़ कर दिखा सकते हैं कि वह आग इसमें कहाँ बैठी हुई है?"

गोविन्दराम ने कहा, "दियासलाई एक कितनी देर तक जलती है? एक मिनट भी तो जलती नहीं। लेकिन अंगार भी क्या दियासलाई के साथ बुझ जाता है? अगर वह दहकता रहता है, तो क्या वह अंगारे की आग दियासलाई की कही जायगी। दियासलाई बुझी पड़ी है, कोयला जल रहा है। आग कोयले के अन्दर न होती, तो वह जलता रहता कैसे?"

अनन्तराम पर स्वभावतः गोविन्दराम की बात का प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने कहा, "देखो, मैं तुम्हारे सामने कोयले को पीस कर धूल किये देता हूँ। आग है तो वह जलती क्यों नहीं।" ऐसा कहकर वह सचमुच कोयले को ठोक-ठोक कर खरल में पीसने लगे।

कोयला चूर हो गया और तब भी आग का पता न चला। अनन्तराम ने घोषणा की कि चूँकि आग का पता नहीं चला है, इसलिए साबित है कि गोविन्दराम को कुछ आता-जाता नहीं है।

गोविन्दराम ने भी ऐसी ही कुछ बातें कहीं। देर अधिक न थी। भृकुटियों में बल आ चला था। और अब नहीं तो अब, आस्तीनें चढ़ी ही दीखतीं।

मैं घबराया। मैंने ज़ोर से कहा, "सुनना, अजी ज़रा सुनना।"

तुरन्त तो नहीं (क्योंकि तुरन्त सुनने का क़ायदा ही उस बिरादरी में नहीं है) लेकिन कुछ समय के अनन्तर श्रीमती जी ने सुना और कमरे में प्रवेश किया।

मैंने कहा, "ये लोग बैठे हैं। पान-वान कुछ तो भेजो।"

श्रीमती ने सुना, शर्माईं, मुस्कराईं, और बेबात चेहरे को पल्ले की हल्की-सी ओट दिये चली गईं।

पलटकर क्या देखता हूँ कि गोविन्दराम और अनन्तराम के चेहरों पर बहस और गर्मी अब नहीं है। वहाँ अब शिष्टता है और शालीनता है। मैंने कहा, "कोई बात नहीं। आप अपनी चर्चा चलाइये। इतने में पान आते हैं।"

अनन्तराम और गोविन्दराम दोनों तनिक धन्यवाद-भाव से मुस्करा दिये और आगे चर्चा न चला सके।

श्रीमती जी आकर चली गई और मैंने देखा कि उनके इस एक झाँकी देकर बेबात चले जाने से दोस्तों के दर्मियान इकट्ठे हुए सब बादल जाने कहाँ विला गए हैं। और किसी को ख्याल नहीं है कि तत्त्व-निर्णय का तार टूटकर कहाँ छूटा रह गया है। और जब पान के बजाय एक-एक नमकीन, मिठाई और फलों की तश्तरी आ पहुँची, तो गोविन्दराम-अनन्तराम बिना भेद-भाव और वाद-विवाद के अखण्ड मित्र की भाँति तल्लीनतापूर्वक उन पर झुक गए!

मैंने तब समाप्ति का सार पा लिया। मन में कहा, "खूब!"

●

रेल में

मैं इलाहाबाद से आ रहा था। तीसरे तक दर्जे में ज्यादा भीड़ न थी। लेकिन रात के वक्त सोना सब को नहीं मिल सकता था। गाड़ी सबेरे दिल्ली पहुँचेगी, और मुझे रात इसी में बिताना है।

दस बज गए, ग्यारह बज गए, बारह बज गए। सोने की जगह का सुभीता न मिला।

पास एक व्यक्ति दरी पर नई सुजनी बिछाये लेटा था। पीछे उसके नया-सा सस्ता ट्रँक और उससे लगा हुआ एक झालरदार छोटा तकिया था। मैंने देखा, बारह बज गये, वह एक मिनट को भी सोया नहीं। वह चैन के साथ देर तक लेटा भी नहीं रहता था। आराम की जगह पाने पर भी उसकी आँखों में नींद नहीं उतरती थी।

इटावा का स्टेशन गया और वह बिस्तर पर सजग बैठ गया। उसने मुझ से पूछा, "कहाँ जाएँगे बाबू जी!"

मैं किसी तरह उसे "आप" नहीं कह सका। उसकी आकृति में वह बात न थी जो मुझ से "आप" कहलाती।

मैंने जवाब में पूछा, "तुम कहाँ जाओगे?"

"मैं ? आप टूँडला जानते हैं ? फीरोजाबाद, और उसके एक स्टेशन बाद टूँडला। टूँडला जंक्शन है, मैं वहाँ उतरूँगा। आप को मालूम है, आगरा वाली गाड़ी तैयार मिल जाती है क्या ?"

मैंने कहा, "नहीं, मुझे नहीं मालूम।" और मैं प्रतीक्षा करने लगा कि वह अब आगे क्या कहता है। उसे अपने-से दूसरा कोई चाहिए था। वह अभी तक अपने आप में समाया रहा, यह जैसे बहुत बात थी। हर स्टेशन के प्लेटफार्म पर उतरता और कभी यह ले कभी वह, कभी यहाँ जा कभी वहाँ, अब कुछ कर तब कुछ, इस प्रकार वह जाते हुए समय के साथ अपने को लगाये रखता था।

"टूँडला तो आपने देखा होगा। कभी बस्ती में गये हैं? बस्ती कुछ नहीं है। बस, स्टेशन ही स्टेशन है।...मैं टूँडला नहीं रहता। टूँडला के पास एक जगह है। पाँच मील होगी। बस, एक स्टेशन है। यों पैदल भी चले जाओ। रेल मिली-मिली, नहीं तो मैं पैदल ही जाऊँगा। सामान क्या है, थोड़ा-सा है।...मैं कलकत्ते से आ रहा हूँ।"

मुझे वह कुछ अनजँचता-सा आदमी मालूम हुआ। उसे अपनी ही धुन थी। वह जैसे आशा करता था कि मैं उसकी बात में उतना ही घुलूँ-मिलूँगा जितना वह। मैंने उसे जाँच से देखा। चमकती पालिश के नये सस्ते शू पहने था। पैरों में बढ़िया मोजे थे। मूँछें किनारों से जैसे चलते वक्त ही कटवाई गई हों। पतलून थी और कोट था।—वे नफीस कट के थे, साफ थे। वे बनवाए नहीं गये, खरीदे गये होंगे। बार-बार जेब से बूँदीदार रेशमी रूमाल निकालकर वह अपने जूतों पर चढ़ी धूल को झाड़ लेता था। टाई थी और आँखों में सुरमा था।

"आप अच्छी तरह बैठ जाइए। इधर आ जाइए...अजी, बिस्तर आपका ही है। आप देखिये, मेरी आँख लग जाय तो शिकोहाबाद पर जगा दीजिएगा। जरूर जगा दीजिएगा।...तीन बजे गाड़ी टूँडला पहुँचेगी,—क्यों साहब? पाँच होते-होते गाँव पहुँच जाऊँगा? गाँव, मैंने कहा न टूँडला से पाँच-सात मील है। ...आप पूछते हैं, कलकत्ते कितने दिन रहा? मैं दो साल कलकत्ते रहा। तब से अब आ रहा हूँ...क्या करता रहा? एक हमारी तरफ का आदमी वहाँ एक सेठ के यहाँ दरवान है। जाते ही तो पहले आँख मिची जाती थी,—कलकत्ता है कि इन्दर का अखाड़ा है। मोटर ही मोटर, गाड़ी ही गाड़ी, मकान ही मकान।....मैं काम की तलाश में गया था। वहाँ करोड़ों आदमी रहते हैं और सब को काम मिलता है। पर दो महीने तक मुझे कुछ भी काम नहीं मिला। फिर क्या किया? फिर बारह रुपये की नौकरी मिल गई। पाँच महीने तक नौकरी रही। बाद खोमचा लगाया। रहता उसी गाँव के चौकीदार के साथ था और चार आने से ज्यादा न खर्चता था।....आपको नींद आ रही है? सोना चाहें, लीजिये, सो जाइये।..."

मुझे बेशक नींद आ रही थी। अगर मैंने उसकी बातचीत के बीच में "हाँ" या "ना" कहा तो समझिए सिर्फ अपनी नींद टालने के लिए और अपने को और उसको यह जताने के लिए ही कहा कि मैं सो नहीं रहा हूँ। उसकी कथा चलती ही जाती थी और यदि उसका कुछ भाग मेरे चित्त पर बन रह गया है तो उस अन्त के कारण जिसने उसकी सारी बात में अर्थ ला दिया और रस भर दिया।

उसने बार-बार कहा कि मैं शिकोहाबाद स्टेशन आने पर उसे

अवश्य जगा दूँ। बार-बार कहा कि उसे टूँडला उतरना है, और कि टूँडला बड़ा स्टेशन है। और यह कि वहाँ से पाँच मील उस का गाँव है और पाँच बजे तक वह अपने घर पहुँच जायगा।

यह स्पष्ट था कि मुझे जगाने का मौका न आना था। नींद उसे आ ही नहीं सकती थी। कुछ उसके भीतर से इतना उबल कर आ रहा था कि शऊर से कुछ देर एक थान चुप बैठे रहना उस के बस का न था। वह बार-बार अपने जूते साफ करता, नकटाई ठीक करता, जेब से बार-बार उसी जूते-वाले रूमाल को निकाल कर हाथ और मुँह पोंछता, ट्रंक खोलता और उसके भीतर के सामान को एतिहात के साथ तहाता। वह, जहाँ पहुँचना है पहुँचने के लिए बहुत व्यग्र मालूम होता था। वह लोभनीय दीखना चाहता था। वह जैसे 'रोमांस' पहने घर पहुँचना चाहता था।

घर! मुझे मालूम नहीं, घर उसका क्या है? क्या यह आदमी पिता है? अपने जूते, अपने चेहरे; अपने रूमाल, अपने सामान की सज और धज के बारे में जो इतना सम्भ्रमशील है, वह पिता है? तब क्या वह पति है? हो सकता है...

जब मैंने देखा कि नींद पाना मेरे लिए असम्भव है, तब हिम्मत करके पूछा, "घर में तुम्हारे कौन है?"

"घर में कौन है? मैं दो-ढाई बरस बाद घर जा रहा हूँ, अब मालूम क्या, कौन है!"

मैंने कहा, "कोई तो है, जिसके लिए यह ठाठ है।"

वह झेंपा-सा। मानो वह अब मर्मस्थल पर छिड़ा है। मानो जो अब तक था वह इस स्थल को आवृत रखने के लिए आवरण था। अथवा इस स्थल तक पहुँचने के लिए भूमिकारूप था। जी के भीतर से यही बात उमग कर आना चाहती थी, पर नहीं आने

दी जा रही थी। इससे ऊपरी सतह की बातें ही अब तक उखड़-उखड़ कर बाहर की ओर बिखरती थीं।

उसने कहा, "बाबू जी, आप कैसी बातें कहते हैं!" और वह हँसा, फिर बोला, "घर में, हाँ, है। पर क्या आप समझते हैं, वह सुशीला है? उसे मेरी फिकर है? वह मेरी बाट देखती होगी? सच बात यह है, वह बड़ी कलहकारिणी है। पैसे के लिए उसे मेरी चाहत है। मैं पहुँच रहा हूँ कि ले, पैसा ले। अब तो वह मुझे पूछेगी!"

मैंने कहा, "क्या वह बहुत नवेली है?"

"यह बात नहीं है, बाबू जी! वह कुछ भी नहीं है। मैं उसे मानता हूँ, सो ही वह अपने को समझने लगी है। मैं पूछना छोड़ दूँ तो उसे सब पता लग जाय।"

उसके शब्द बिना कठिनाई से निकल रहे थे। वैसे ही जैसे मन की ऊपरी बात साफ़ मुँह से निकल जाती है। झूठ बात चिकनी होती है और मन उसे सरलता से बाहर फेंकता है। सच बात को खींच कर निकालना होता है क्योंकि वह जी के भीतर बहुत गहरी गई होती है। शब्द मुँह से जो निकल रहे हों, पर उसके चेहरे पर स्पष्ट लिखा था कि जो कह रहा है हलके मन से कह रहा है। सत्य उससे विपरीत है। साफ था कि बात असल यह है कि वह उसका (घर वाली का?) बहुत मूल्य आँकता है। वहाँ अपना केन्द्र मानकर उसकी आकांक्षाएँ और योजनाएँ अपना पसारा फैलाती हैं।

मैंने कहा, "देखो बाबू, वह कहीं और जाय तो तुम जाने दोगे?"

वह एक दम आहत हो झुक गया। बोला, "आप ऐसी बात कैसे कहते हैं ? मैं कभी उसकी मरजी को रोकने वाला हूँ ? उसे काहे की छुट्टी नहीं है ? लेकिन, आप नहीं जानते उसने क्या-क्या मेरे लिए झेला है ! वह मेरी व्याहता नहीं है, लेकिन जो मुसीबत उसने मेरे साथ मिलकर काटी है उसे याद करते अब डर होता है।"

* * *

यह सब मुझे याद न रहता। लेकिन कुछ और भी हो गया। टूँडला स्टेशन पर वह उतरा। उसने मुझ से बिदा माँगी और मैं साथ-साथ प्लेटफार्म पर उतरकर आया और काफी दूर तक उसके साथ गया। बिदा देकर लौटता हूँ कि राह में मेरा ध्यान हठात् एक भीता-चकिता स्त्री के मुख की ओर चला गया। जैसे एकाएक उस स्त्री का मुख विवर्ण हो उठा हो और वह उसके लिए अनुद्यत हो। उसके साथ एक पुरुष था। दोनों साथ उसी आगरे वाली ट्रेन की ओर जा रहे थे। मैं उनके पास से निकलता हूँ कि देखा उस स्त्री ने उस पुरुष की बाँह थाम कर उसे रोक लिया है और मानो जाने से इन्कार कर रही है।

तभी झपटती-सी यह बातचीत मेरे कानों में पड़ी—

"क्या है ! चल न।"

"नहीं जाऊँगी। तुम्हारे तो आँखें नहीं हैं। इसी गाड़ी से वह जा रहा है।"

"कौन ?"

"वही !"

"कहाँ जा रहा है ?"

"गाँव जा रहा होगा। मैं अब नहीं जाऊँगी। लौट चलो।"

"डरती क्यों है ? कोई तू उसकी व्याहता है ?"

"नहीं-नहीं-नहीं । मुझे वह मार डालेगा ।"

"चल तो । देखूँ, कैसे आँख तक उठाता है । मैं—"

"मुझे नरक में ले जाओ, पर गाँव में नहीं जाने की ।"

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि पुरुष इस पर राजी हुआ । किन्तु, मैं रुका नहीं, चलता चला आया । और इस घटना की पीठिका पाकर अपने उस साथी की बातचीत मेरी याद में उभर कर बैठ गई ।

सम्बोधन

मैं आ गया और मेरे आने का उसे पता न लगा। आँख मूँदे आराम-कुर्सी पर वह लेटा हुआ था। मैं धीमे-धीमे कुर्सी तक गया, खड़ा रहा। घड़ी मेज़ पर टिक-टिक कर रही थी। गर्मी थी और पंखा बन्द था। मेज़ पर पेपर-वेट के नीचे कुछ कागज़ चित्त पड़े थे। दूसरी मेज़, जहाँ रोज नियम से दो क्लर्क बैठे काम करते होते थे, बिलकुल खाली थी। और कमरा सुन्न, व्यवस्थित, अकेला था।

ये सो रहे हैं या सोच रहे हैं ? और मुझे आतुरतापूर्वक बुलाकर आप बेखबर हो रहने का प्रयोजन क्या है ? मैं चुपचाप फिर दर्वाजे पर लौट गया और वहाँ से पैरों की आहट करता हुआ वापिस कुर्सी की ओर बढ़ा।

वह एकदम चौंककर उठा, उठकर खड़ा हो गया, पहचाना। "ओह, आ गए। मैं जानता था, तुम आओगे। क्योंकि न आते तो मेरी मौत आती। मुझे भरोसा था। भरोसा तुम्हारा ही मुझे है। बैठो।"

—कहकर, मेरा हाथ पकड़कर, अपनी कुर्सी की ओर मुझे खींच लिया और आप दर्वाजे की ओर बढ़ा।

"बैठो-बैठो। क्या पौने दो हो गए। कुशल हुई। तुम खूब ही वक्त पर आए। तो मेरा नसीब बिलकुल नहीं मिट गया है। आध घण्टा और हो जाता तो गज़ब ही हो गया था। ऐसा गज़ब कि फिर जाने क्या होता।......पर अब ठीक है। बैठो-बैठो, मैं भी बैठता हूँ।"

मैं उसे देखता रहा। मैं इतना तैयार न था। मुझे गुमान न था कि हालत चढ़ी होगी और अनुमान न था कि बात क्या है।

उसने जाकर दर्वाजे की चटखनी बन्द कर दी, बिजली के पंखे का मुँह मेरी ओर करके चला दिया और एक कुर्सी पर बैठ गया। मुँह उसका चटखनी की ओर था और बन्द था। वह बोला नहीं। मैंने कहा, "क्या है ?"

वह जैसे दम ले रहा था। वह कुछ बोल नहीं सका। पर उसकी सम्पूर्ण मुद्रा से उत्तर मिला कि मैं तनिक उसे सँभलने दूँ।

मैं रुक गया। कुछ देर बाद फिर पूछा, "आखिर बात क्या है ?"

कुर्सी उसने अब मेरी ओर कर ली। कहा, "बताता हूँ। पर, तीन बजे तक, देखो, तुम मत जाना। मैं यही कहता हूँ। मैं जब कह दूँ, तब जाना।"

मैंने उसे देखा, कहा, "नहीं। मैं अभी जा रहा हूँ। लेकिन, और सब लोग कहाँ हैं ? और यह क्या बात है,—तुम ऐसे क्यों हो ?"

उसने कहा, "मैंने सब को भेज दिया है कि शाम तक न लौटें। इसका इन्तजाम किया है कि मैं अकेला रहूँ। सहायता पास

न रहे। निस्सहाय होकर डूब जाऊँ। पर, ज्यों-ज्यों मिनट बीते और वह घड़ी पास आने लगी तब आस दीखी कि डूबना ही एक राह नहीं है, और मेरे पास तुम हो। तुम हो, तब क्यों डूबूँ? तुमको पास बुला लूँगा, और तिर जाऊँगा। और तुम आ गये हो।... वह गाने की आवाज़ सुनते हो?"...

हाँ, मैंने गाने की आवाज़ सुनी। हार्मोनियम बज रहा था और उसके साथ कभी-कभी एक स्त्री-कण्ठ आलाप लेता था। बाजा और बजाने-वाली कहीं पास ही थे। सङ्गीत की आवाज़ बन्द कमरे में खासी स्पष्ट आ रही थी।

उसने पूछा, "क्या कहते हो?"

मैं समझा नहीं।

"गाना कैसा है? और बजाना कैसा है?"

मैंने कहा, "कोई ख़ास अच्छा नहीं।"

उसने आवेश में कहा, "खास अच्छा नहीं, बिलकुल ही अच्छा नहीं है। अच्छाई उसमें नाम को नहीं है। तुम जानते हो, गाना अच्छा क्या होता है? मैं भी ऐसा नहीं जानता। पर यह किसी तरह अच्छा नहीं है। किसी तरह नहीं है।—यही दो बजे यहाँ आने वाली थी।"

मैं उसे देखता रह गया।

"......पर, अब नहीं आयेगी। अब तुम हो और द्वार की चटखनी बन्द है। देखते हो न, मैं इसी के लिए अकेला था। मैंने सब को दूर भेज दिया था कि दो का वक्त पास आये। पर, अब दो बजते हैं, फिर भी मुझे डर नहीं है। मैं तुम्हें सब बताऊँगा। तुमसे जानूँगा कि मैं क्षम्य हूँ। तुमसे सुनूँगा कि मैं बीत नहीं गया हूँ। मुझे पता नहीं होता कि बात क्या होती है। तुम मेरी

पत्नी को जानते हो ? कौन अन्धा है कि कहेगा वह कम सुन्दरी हैं। और मालूम नहीं तुमने कभी उनका गाना भी सुना या नहीं। सच सहता हूँ, खूब गाती हैं। और बजाने में, छात्रावस्था में, कई पदक पाये हैं। पर घर में सब बन्द है, और गाने की जगह कलह होता है। उनके बारे में मेरे जी में ऐसा निरुत्साह बस गया है कि वह गाना भूलती जा रही हैं और बाजों पर धूल जम रही है। और गाने के नाम पर यह चिल्लाना सुना न ? लेकिन सच कहूँ तो अभी पड़ा आँखें मीचे मैं इसी का रस ले रहा था। इस बेसुरी चीख में रस कहाँ है, रस की ठठरी है; पर मैं रस ले रहा था। अच्छा है, अब वह बन्द हुआ। कोई गाने में गाना है ! पर, उसी में अपने को भूल जाने का अवसर मैं निकाल लेता हूँ। भाई, यह क्या होता है ? यह देखते हो, यह कम्बख्त हाथ का बाजा ? सीखने के लिए मैंने मँगा लिया है।—रोज़ दो घण्टे, तीन घण्टे, यह बाजा इस तरह बेसुरा सिर पर चीखता है। पर उसीको सुनकर मैं इतना अवश हो उठा कि यह बाजा मँगा लिया। इस पर वही गीत सीख रहा हूँ, जो सुनता हूँ।......भाई, क्यों इस सङ्गीत-सम्बन्धी अपने उत्साह का कुछ भी भाग मैं पत्नी के सामने होकर अपने भीतर कायम नहीं रख सकता ?......और यह लड़की ! देख पाओ तो जानो, सौन्दर्यहीनता क्या वस्तु है। रङ्ग की मैली है। थोड़ी-सी अँग्रेजी जरूर पढ़ गई है; पर, वह उसके भीतर रहकर नहीं टिक पाती, मानो उघड़ी-उघड़ी पड़ती है। पच जाती, तो गुण बनकर उसका सौन्दर्य बढ़ाती। अब बाहर फैलकर केवल फैशन बढ़ा पाती है। सब-कुछ है, लेकिन......मुझे बताओ, मैं क्या करूँ ? अच्छा ठहरो। मैं दिखाता हूँ...”

मैं उसे देखता ही रह सका। उसने मुझे कुछ बोलने का मौका

नहीं दिया। बहुत-कुछ था उसमें जो बन्द था, घुट रहा था, और बाहर हो रहना माँगता था। उसने चाबी से बड़ी मेज की दराज खोली, डिब्बा निकाला, उसे भी चाबी लगाकर खोला, और कुछ कागज निकालता था कि बाहर से दरवाज़े को खटखटाया गया। मुझ से पहले खटखटाना उसने सुना। उसके कान मानो वहीं थे। भयत्रस्त हो एकदम सब छोड़ उठकर वह मेरे पास आ गया। उसने मेरे कान में कहा, "दया करो, कुछ बोलो। कुछ बोलो, और जोर से बोलो। कह दो, मैं नहीं हूँ।"

मैंने धीरे से कहा, "डरो मत। जाकर दर्वाजा खोल दो। झूठ का आसरा मत लो, जीत का रास्ता यह नहीं है।"

खटखटाहट ठहर-ठहर कर जारी रही।

वह बेहद कातर हो उठा। उसने कहा, "इस वक्त मुझे बचा लो। कुछ ज़ोर से बोलकर अरे यह जतला दो, भीतर कोई और भी है।"

मैंने कहा, "तुम नहीं जाते तो मैं जाकर दर्वाज़ा खोले देता हूँ।"

बाहर से बहुत धीमी-सी आवाज़ आई—"शंकर..."

शंकर ने मेरे पैर पकड़ लिये, "अच्छा, दो मिनट रुक जाओ। वह आप चली जायगी। देखो..."

"उठो शंकर" मैंने कहा, "जाओ, किवाड़ खोलो, नहीं तो मैं खोलता हूँ।" इस बार धीमे-धीमे द्वार पर दो थपकी दी गईं।

शंकर विमूढ़ खड़ा रह गया, हिल न सका।

मैंने जाकर चटखनी खोल दी।

दर्वाज़ा खुला और एक सोलह वर्ष की लड़की सामने दिखाई दी।

वह स्तब्ध, फक रह गई।

मैंने कहा, "आइए!"

वह लौट भी न सकी, आ भी न सकी।

मैंने कहा, "आइए, शंकरदयाल यह हैं।"

वह अन्दर आगई। शंकर मूढ़ हो बैठा। उसने नीचे देखा, ऊपर देखा, फिर सामने देखता खड़ा रह गया।

किशोरी ने कहा, "मैं—मैं..."

मैंने कहा, "शंकरदयाल, यह महिला क्या माँगती हैं, सुनो।"

किशोरी ने कहा, "मैं—मैं 'परख' चाहती हूँ। आपके यहाँ है ?"

शंकरदयाल ने चुपचाप एक शेल्फ से 'परख' की एक प्रति निकाल कर पेश की।

किशोरी, "क़ीमत तो इस समय मेरे पास नहीं है। मैं पूछने ही आई थी, है या नहीं।

शंकर, "आप ले जाइए।"

किशोरी, "नहीं, फिर ले जाऊँगी।"

शंकर, "किताबें बिकतीं मेरी दुकान पर हैं।"

किशोरी, "मुझे मालूम नहीं था, नहीं तो मैं क्यों आती, वहीं से मँगा लेती। भाई ने कहा था, यहाँ से मिल जाती हैं। मुझे माफ कीजिए।"

मैंने कहा, "आप यह प्रति ले जाइए। और कीमत आपको नहीं देनी होगी।"

किशोरी संकटापन्न दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी। उसे मेरे बारे में जैसे बड़ा भारी संदेह हो आया। क्या मैं उसके प्रणय-भेद से परिचित हूँ ? मैंने तुरन्त कहा, "शंकरदयाल अवश्य पुस्तक-विक्रेता हैं। किन्तु मैं 'परख' का लेखक हूँ। मेरी ओर से आप यह प्रति ले जाइए।—शंकरदयाल, यह प्रति उन्हें दे दो। मूल्य नहीं लिया जायगा।"

बेचारी वह बाला मूढ़-कर्त्तव्य हो रही। शंकरदयाल ने जब वह पुस्तक उसकी ओर बढ़ाई, तो न हाथ फैलाकर ले सकी और न स्पष्टता से इनकार कर सकी।

मैंने कहा, "लेखक की हैसियत से मेरे लिए यह बिलकुल असह्य है कि मेरे सामने कोई मेरी पुस्तक माँगे, और पुस्तक हो, फिर भी वह न मिले। आप निश्चय रखें, मैं कभी यह न सहूँगा।"

उसने हाथ बढ़ा दिये, मानो होनहार को उन हाथों थामना होगा ही,—इस भाव से।

शंकर ने वह प्रति उन हाथों में दी।

किशोरी ने कहा, "मैं दाम शाम तक भिजवा दूँगी" और शीघ्रता से चली जाने को वह तैयार हो गई।

मैंने कहा, "दाम आप बिलकुल नहीं भिजवा सकेंगी। और शंकर, तुम बिलकुल नहीं ले सकोगे। और आप जाती अभी क्यों हैं? 'परख' के लेखक के कहने से कुछ देर भी नहीं ठहर सकतीं?

इस तरह रोकी जाकर वह बोली, "मुझे काम है। बस किताब को पूछने आई थी। अम्माजी भी कहती थीं मैं पढ़ूँगी। मुझे मालूम नहीं था, यह गलत है कि यहाँ किताबें मिलती हैं। मुझ से भाई ने कहा था, किताब चाहिए तो शंकर के यहाँ पूछ लेना। पूरा नाम भी नहीं जानती थी—शंकरदयाल। सो, अभी इनका नाम पूछती चली आई। सोचा, गर्मी के मारे किवाड़ बन्द कर लिये हैं, भीतर लोग काम कर रहे होंगे। मैं नहीं जानती थी कि आज—आज, कोई नहीं है। मुझे माफ कीजिए मैंने आपका हरज किया।..."

और इस कैफ़ियत के बारे में मानो आप ही आप सन्दिग्धचित्त होती हुई वह अपनी नई धानी रेशमी साड़ी में सकुच कर रह

गई। वह अबोधा नहीं जान सकी कि एक अजनबी की आँखों में इतना कुछ कहकर अपनी प्रामाणिकता को प्रमाणित करने की चेष्टा अपने-आप में ही सन्दिग्ध होकर प्रकट होती है। उस समय जी में आया, उसे कहूँ कि बेटा, सत्य सदा सुखकारी है। सत्य में मंगल है, जय है। किन्तु तभी मुझे यह भी प्रतीति हो गई कि कहीं अप्रिय सत्य को रोक रखना ही धर्म क्यों बताया गया है। मुझे तब भली प्रकार जान पड़ा कि अहिंसा सत्य का व्यवहार्य रूप क्यों है। अहिंसा-हीन सत्य का सेवन आत्म-हीन, प्राण-हीन जड़ का सेवन क्यों है। और मैं किसी प्रकार भी उस छाया के आसरे को तोड़ने की हठ अपने भीतर नहीं जगा सका जो उस बेचारी बाला ने, विषता की हालत में, झीनी-सी असत्य की जाली ऊपर तानकर अपने लिये छा लिया था। वह माया की जाली यदि अभी-अभी छिन्न-भिन्न होकर हट जाय, तो वह कैसे सह सके? जीना उसे दूभर न हो जाय? लाज की मारी विचारी मर न जाय?

मैंने कहा, "मैं समझा था, आप इन्हें जानती हैं। अब जाना कि आप पूरा नाम भी नहीं जानती थीं। आप कहीं पड़ोस में ही रहती हैं, शायद साहित्य की सब प्रकार की पुस्तकें इनके यहाँ आती हैं। और जो ज़रूरत हो, यह मँगा दे सकेंगे। यह मेरे मित्र हैं, मेरी ओर से आपकी आवश्यकताओं का निश्चय यह आदर करेंगे। 'परख' पढ़कर आप इन्हें बता जायँ आपको कैसी लगी, और अवश्य बता जायँ। मैं इनसे पूछूँगा।"

जहाँ से सन्देह का और अवज्ञा का उसे भय था, वहीं से सहज विश्वास और अप्रत्याशित आदर उसने पाया, तो सिर से पाँव तक वह लज्जायुक्त आत्म-संकोच में डूबने को हो गई, और क्षण भी और न ठहर सकी, झटपट चली गई।

: २ :

स्वस्थता पाकर शंकर ने कहा, "यह तुमने क्या किया !"

मैंने माना कि सच, मैं कुछ नहीं कर सका।

शंकर, "तुमने मुझे डूबने के लिए बाकी नहीं छोड़ा था। खैर, तुम्हींने बचा भी लिया। तुम क्या चाहते थे ?"

मैंने पूछा, "शंकर, तुम क्या चाहते हो ?"

किन्तु शंकर क्या चाहता है ? वही चाहता है जो बहुतों ने चाहा है, कमने पाया है। कर्त्तव्य की सामने एक राह उसने बनाई है। चाहता है उसी उसी पर चले, डिगे नहीं। और देखता है, सब-कुछ मानो उसे उस पर से डिगाने पर तुला है। वह नहीं डिगना चाहता, पर डिगे बिना भी कैसे रहे। वह चाहता है कि कोई उसे बचाये। वह चाहता है कि क्यों, उसकी पत्नी ही उसके लिए सब कुछ न हो रहे, जैसे कि वह सब-कुछ हो रहने योग्य है। जो है नहीं, वही तो वह चाहता है।

मैंने कहा, "मैं तुम्हारी जीत चाहता हूँ, शंकर, और चाहता था कि तुम दोनों को एक साथ छोड़कर मैं चला जाऊँ। तुम दोनों एक दूसरे के प्रति चोर बनकर न रह सको सुहृद बन कर रहो, मैं इसका प्रबन्ध करना चाहता था। पहले भय छोड़ो। भयभीत होकर जो कर्तव्य-पालन होता है, समझो, वह, टूटने के लिए, अवसर की प्रतीक्षा में ही रहता है। वह टूटा भला। भय पर कर्त्तव्य को मत टिकाओ, उसे सत्य पर खड़ा करो। पहले असच्चरित्र माने जाने की क्षमता जगाओ। फिर अपने बल सच्चरित्र बनो। भय के अवलम्ब पर खड़ी सच्चरित्रता बालू की भीत पर खड़ी पताका है। लगता है, हम जयी होकर खड़े हैं; पर वह विजय का व्यंग है। वैसी विजय की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। हार अपनाने की

खुली विनम्र तैयारी में से जय बनती है।...इसलिए मैं चाहता था, कि तुम दोनों में आपसी सम्बन्ध के बारे में स्तेय-भाव की चेतना कम हो, और यह चेतना उत्पन्न हो कि एक है जो साक्षी है, और तुम दोनों को इसलिए साथ और पास करना चाहता है कि तुममें एक-दूसरे के प्रति आदर-भाव उत्पन्न हो। आज तुमने अपने को लाचार कर लिया है कि एक-दूसरे को इतनी घृणा करे कि प्रेम के लिए छल और चोरी की सहायता लेनी पड़े। तुम्हारे मन में उसका आदर नहीं, उसके जी में तुम्हारा नहीं। फिर भी तुम टोह में रहते हो कि एक क्षण अवसर पाओ, उसे देखो, और सामने कर-चुम्बन के प्रार्थी होकर खड़े रह जाओ। फिर, तुम ग्लानि जगाते हो, कहने को बाध्य होते हो कि वह असुन्दर है, हीन है, अपात्र है। मैं कहता हूँ, यह विषमता भय ने पैदा की है और यह आकर्षण चोरी की आवश्यकता में से निकला है। निर्भीक बन सकोगे, तो सहज भाव बढ़ेगा। खुल रहोगे तो आकर्षण तीखा नहीं रहेगा, स्निग्ध होगा।"

किन्तु, मैं इतना बोलना चाहता नहीं था। और मैंने देखा कि उसका मुँह सूना है। हाय, वह मुझसे क्या चाहता है। मैं तो अपेक्षा-हीन सत्य ही कह रहा हूँ। वह विरक्ति के उपदेश-सा नहीं लगता और उसमें भर्त्सना नहीं है, यह तो ठीक ही है। तब क्या वह प्रत्यक्ष तिरस्कार ही चाहता है, ठोस नीति ही चाहता है? किन्तु, जो जितना ही ठोस और प्रत्यक्ष है वह तो उतना ही कम भीतरी और उतना ही कम अमोघ है।

उसने कहा, "अरे विद्याधर, तुम क्या-क्या कह रहे हो, अरे, मुझे बढ़ावा मत दो, मुझे तो शान्ति दो।"

मैंने तब कहा, "मुझे तुम क्या दिखाना चाहते थे। दिखाओ तो... ।"

उसे जैसे टूटा सिलसिला याद आ गया। वह गया, बक्स में से कागज़ निकाले, बक्स को फिर वहीं रख दिया, और मेरे पास आ गया। कहा, "ये उसकी चिट्ठियाँ हैं। देखकर बताओ, मैं क्या करूँ ?"

मैंने एक को देख लिया, दो को देख लिया, तीन को देख लिया। फिर सब बन्द करके रख दीं।

पूछा, "तुमने कुछ नहीं लिखा ?"

शङ्कर, "लाचार होकर लिखा। पहली तीन चिट्ठियाँ उसकी थीं।"

मैं, "तुम्हारे पत्र प्रेमपत्र नहीं थे ?"—

शङ्कर, "कैसे हो सकते थे !"

मैं, "उन्हें जला दो।"

शङ्कर, "जला दूँ ?"

मैं, "किताबों की जूठन उनमें बहुत है। हृदय के पत्र होते तो रखने के लिए मैं माँग लेता। अब उनका उपयोग कुछ नहीं है"

शङ्कर, "लेकिन जला दूँ...!"

मैं, "जलाना इसलिए आवश्यक है कि ऐसा न हो कि कभी वह बाला उन्हें देखे, और लज्जित हो।"

शङ्कर, "इससे सब-कुछ निबट जायगा ?"

मैं, "नहीं, सब-कुछ नहीं निबट जायगा। तुम अपनी पत्नी से मिलो। एक-एक बात उससे कह दो। ऐसे कहो कि उसमें यह ध्वनि तनिक न हो कि दूसरे पक्ष का दोष है। और, यह मुझ से सुनो कि दूसरे पक्ष का दोष नहीं है।"

शङ्कर, "क्या—आ ?"

मैं, "दोष का तनिक भी भाग तुम्हारा मन दूसरे पक्ष पर जब तक टाले, समझो कि मन अनुकूल नहीं है। वह स्थिति आनी चाहिए कि अनुभव हो, जगत् के प्रति मैं ऋणी हूँ, मैं अपराधी हूँ। जगत् को दोष देकर छुटकारा नहीं मिलेगा। छुटकारे के लिए, सब बात के लिए अपनी ओर देखना होगा।"

शङ्कर, "किन्तु, मैं कह कैसे सकता हूँ ? स्त्री को यह कहूँ ?"

मैं, "हाँ, स्त्री को यह कहो। स्त्री से न कहकर कहाँ जाओगे ? स्त्री से अधिक अभिन्न, अधिक निकट, मुझे या और किसी को बना सकने की आशा में मत रहो। उससे न कहोगे जिसके साथ अभिन्न जीवन होकर रहने की प्रतिज्ञा समाज के, अपने और परमात्मा के सामने लेकर, घर बनाने का अधिकार और आज्ञा पाकर, आज यहाँ बैठे हो ? और यह भी समझो कि आज चाहने पर भी घर तोड़ने का हक तुम्हारे अकेले के पास नहीं है। दोनों मिलकर यह कर सकते हो; पर, टूटे घर बने नहीं हैं।

शङ्कर, "पर वह क्या समझेगी ?"

मैं, "जो भी समझे, वह समझना आवश्यक है। तुम्हारी ओर से कुछ सुनकर समझना उससे कहीं कम भयावह और कहीं अधिक श्रेयस्कर है, जो वह अपनी खोज से जानकर समझेगी। क्या तुम उस अनिष्ट को चाहते हो ?"

शङ्कर, "यह भी तो सम्भव है कि मेरे सम्बन्ध में उसमें वह उपेक्षा और दुर्भावना पैदा हो जाय जो मुझ पर से उसका अंकुश ही उठा दे। निरंकुश होकर वह चलने के मार्ग में क्या रुकावट रह जायगी !"

मैं, "हाँ, यह सम्भव है। यह खतरा तुम्हें उठाना होगा। केवल तुम्हारी सत्प्रेरणा पर तुम्हारा अवलम्ब होगा। बाहरी हर

किसी अंकुश के अभाव में तुम्हें निरंकुश न होना सीखना होगा। पति के सम्मान की अब तुम्हें चिन्ता है। उसे मैं कहता हूँ, खो दो। पति की सम्मान-रक्षा मनुष्य की सम्मान-रक्षा के प्रतिकूल नहीं है। और, फिर सम्मान-रक्षा से बड़ी आत्म-रक्षा है। सत्य-रूप आत्मा की रक्षा में जो सम्मान खोया जाता है वह खोये जाने लायक है।"

शङ्कर, "तो मैं यह करूँ ? मैं कर सकूँगा ?"

मैं, "हाँ, जरूर करो और जरूर कर सकोगे। और उस लड़की से मिलना बन्द न करो। छिपकर कभी न मिलो। इस प्रकार मिले बिना न रहा जाय तो कुछ चारा नहीं; किन्तु, पत्नी पर प्रकट कर दो। और दिल से दूर निकालो कि वह सुन्दर नहीं है, योग्य नहीं है। वह सुन्दर है, और तुम्हारे आदरयोग्य है। प्रेम की अपूर्णता में से यह कदर्य भाव निकलते हैं,—असुन्दर और अनादृत। सहसा अपने निकट उसे आदरहीन मत बनाओ। और, अपने को आदरहीन मत बनने दो। एक-दूसरे में श्रद्धा, समादर, सम्मान का भाव रखना आरम्भ करोगे तो वासना लुप्त होने लगेगी। अपने प्रेम को कम न करो। प्रेम धर्म है। प्रेम में मोक्ष है। बन्धन प्रेम तोड़ने में है। किन्तु, प्रेम वह नहीं जिसका आधार घृणा हो, और जिसका परिणाम ग्लानि हो। क्या अपने प्रेम-पात्र के सम्बन्ध में घृणा से मुक्त नहीं हो सकते ? उससे मुक्त हो जाओगे, तो प्रेम सात्विक होगा। और प्रेम-पात्र को घृणा करते जाना,—छिः कैसी लज्जा-जनक बात है ! बस यही तुम्हें करना है। अपने प्रेम को इतना सम्पूर्ण बना लेना है कि घृणा को अवकाश न रहे। और, एक बात और है। पत्नी को पत्नी न समझो, बच्चों की माता (अथवा भावी माता) समझो। अर्थात् मान रक्खो

कि उसका अपना व्यक्तित्व है। तुम्हारा उतना ही अधिकार उसपर है जितने तुम उसके प्रति समर्पित हो। इस तरह उसे प्राप्त करके भी तुम उसे अपने लिये प्राप्य बना सकते हो। उसमें कुछ-न-कुछ अप्राप्त शेष रहने दो और कुछ-न-कुछ अप्राप्य की झाँकी उसमें पाते जाओ। तब तुम्हारा प्रेम शिथिल न होगा और कभी किसी और नये आधार की उसे चाह न होगी।"

शङ्कर, "भाई, मैं तुम्हारी बात मानूँगा। देखूँगा।"

: ३ :

किन्तु, सरल ही कठिन है। हम जीवन को ऐसा बना बैठे हैं कि सर्वान्तर्गत आत्मगत सत्य व्यवहार के लिए असंगत और विदेशी हो पड़ा है। छल में से बाहर आकर जल से निकली मीन की तरह हम अपने को अशान्त, निष्प्राण, निस्सहाय अनुभव करते हैं। हमारे लिये जीवन के व्यापार छल में रहकर ही सम्भव बनते हैं। जो निश्छल होकर रहना चाहे, हमें लगता है, उसके लिए यही गति है कि वह निर्वाण के ध्यान में जंगल में जा रहे; दुनिया में उसे जगह नहीं। तभी हमारी समस्याएँ बढ़ती हैं; जीवन आजीवन एक उलझन बना रहता है। मौत तब समाप्ति की भाँति आकर अच्छा ही करती है।

पाँच रोज बाद शङ्कर घर आया। मुँह फीका था और वह दीन बना था। उसे दीन बनने की क्या आवश्यकता थी? कमाता था, खाता था, दो आदमियों में सम्भ्रान्त गिना जाता था, और पास गाँठ की अकल भी कम नहीं थी। पर वही फीका, दीन, प्रार्थी बना हुआ-सा, देखा मेरे पास आ रहा है। मैंने कहा, "कहो शङ्कर..."

बोला, "मैंने बहुत कोशिश की। स्त्री से पूरी-पूरी बात खुलकर

किसी भाँति नहीं कह सका। हाँ, बहुत कुछ कह दिया है। पर, उसकी तो उदासीनता अगाध है। उसे किसी तरह का अविश्वास, या किसी तरह का विश्वास, नहीं होता। तत्सम्बन्धी दिलचस्पी की आवश्यकता ही उससें नहीं उपजती। क्या परिणाम हुआ है इसका, जानते हो? सर्वनाश के इतने निकट सैं खिंच आया हूँ कि वह किसी घड़ी सिर पर फूट सकता है!"

मैंने कहा, "घबराओ मत..."

बीच में ही चोट खाकर वह बोला, "घबराऊँ नहीं, यह तुम कहते हो? तुमको मालूम है, इस बीच मैंने तीन चिट्ठियाँ और पाई हैं, और दो बार मुलाकात हो गई है। मैं उन्हें नष्ट नहीं कर सका। नष्ट कर देने में उन्हें एक क्षण लगता है।...और उनके रहने देने में हर्ज क्या था? वे मेरा क्या बिगाड़ सकती थीं? मैंने सोचा, जब चाहूँगा जला दूँगा, फिर मुझे जल्दी किस बात की है? मैंने यह तै कर लिया और मैं उन्हें नहीं जला पाया...और तुम कहते हो घबराऊँ नहीं!...तुम जानते हो, क्या? अरे हम इतने बढ़ आये हैं कि अगला कदम, और नाश। सामने और कुछ नहीं रह गया है और राह में का सब-कुछ हमने तोड़ दिया है और हम खिंचे जा रहे हैं। कदम हम न रखें, तो भी मालूम होता है, रखना होगा। मुड़ने का स्थान नहीं है। लंगर पीछे जाने कहाँ छूट गया है और अब आँख के नीचे आवर्त है जिसमें हम गिरेंगे और जो हमें निगल जायगा। और तुमने कहा था, मैं मिलना बन्द न करूँ। और कहते हो, मैं घबराऊँ नहीं। घबराऊँ नहीं, तो बताओ, क्या करूँ? तुम्हीं बताओगे, क्योंकि तुमने ही सब-कुछ होने दिया है। मैं भाग रहा था, तुमने कहा, पीछे भागो मत, सामने आगे बढ़ूँ। तुमने मेरे साथ यह भयंकर उपहास, निठुर, क्या समझकर किया

था ? मैं तुम्हारे पास आया हूँ और जल रहा हूँ। मुझे जलाने की बात न करो। ठीक बात करो।"

कहकर वह पहले की भाँति निस्तेज हो पड़ा।

मैंने कहा, "तुमने आरम्भ में मैल जमने दिया। प्रेम स्वच्छ है। सामाजिक सदाचार की सँकरी और विषम मान्यताओं में उसका प्रवाह रुका। रुकता रहा, रुकता रहा, बँधे पानी की नाईं उसमें बास पैदा हो गई। मैल जम गया। वह उन मान्यताओं के शरीर में व्याप गया। हृदय का सेवन उसे मिला तो कसक देकर पीब बन उठी। तमाम शरीर की मलिनता उसी एक बिन्दु की ओर खिंच कर संचित होती रही। फोड़ा हो गया। अब पका है, मीठी मीठी चसक देता है, पीर देता है। उसके फूट जाने में ही अब कुशल है। उसे फूटने दो। और स्वास्थ्य-लाभ करो।"

शंकर, "क्या विद्रूप परिहास करते हो! जानते हो, क्या कह रहे हो ? उसका कौमार्य खंडित हुआ तो मैं कभी स्वस्थ हो सकूँगा ? और तुम कभी अपने को और मुझे क्षमा कर सकोगे ? सम्भल कर बात करो...।"

मैं, "कौन अपना कौमार्य अखंडित चाहता है ?"

शंकर अत्यधिक त्रस्त हो आया और बोला, "विद्याधर !"

मानो मैंने उसकी आत्मा पर पाँव रख दिया है। किन्तु, दैन्य मानव का कब धर्म है ? कातरता को कुचले बिना मनुष्य के लिए जय कहाँ है ? मनुष्य के भीतर क्षुद्र है, वह भीरु है। विराट् उसी को पद-दलित करके खड़ा होगा और आवाहन देगा कि ओ धीर, क्लैव्य तज, दुर्बलता छोड़, धर्म पहचान और वीर बन युद्ध में खड़ा हो जा।

मैंने कहा, "तुम समझते हो कि जिसे तुम कौमार्य कहते हो,

उसके खंडित हो जानेपर, उस बाला के प्रति सब सम्मान मेरे हृदय में से नष्ट हो जायगा ? तुमसे मित्रता तक तब मैं न रख सकूँगा ? नहीं, मैं ऐसा दम्भी नहीं हूँ। इसीलिए बेलाग बात कह देता हूँ। तुम मुझसे सुन लो, मानो चाहे न मानो, कि जो रुका है, उसे मार्ग देना होगा। न दोगे, वह खुद बना लेगा। दूसरी बात भयंकर होगी। तब तुम दुष्ट होकर ही दम ले पाओगे, या ढोंगी होकर जिओगे। तुम अपना अस्तित्व खोकर हठात् बहोगे, और बहोगे। त्राण पहले मार्ग में ही है। सत्कामना तुम्हारे भीतर है, तो क्यों नहीं तुम अपनी पत्नी के चरणों में आँसू बहाकर अपने को खाली कर लेते ? नहीं तो जो वेग बन्द है, ऐसा फूट,कर बाहर बह जायगा कि तुम खोखले रह जाओगे। मेरे पास तुम्हारी तरह उस अबोधा किशोरिका के हृदय का कुछ भी स्नेह और अधिकार होता, तो मैं कहता, 'बेटा, तुम अपने को लेकर संकट में हो। डर रही हो; क्योंकि चोरी पर लाचार हो। चलो, जिसकी चोरी करती हो, उससे कह दो, बहन, तुम्हारे घरमें सेंध लगा कर चोरी करने मैं घुस आई हूँ। अब अपने को तुम्हारे हाथों पकड़ाये दे रही हूँ। तुम मेरे सम्बन्ध में आगे भी सावधान रहना।'...और यह नहीं कर सकते, तो मैं कहता हूँ, जिसे नाश, सर्वनाश, महानाश कहकर डर रहे हो और डरा रहे हो, उस भूत को ऐसा समझकर देख लो कि साधारण-सा दिखाई पड़ने लगे। होनहार में से गुज़र कर मन की स्थिरता सदा के लिए नष्ट मत समझ लो और बना लो। जो आ ही जायगा, उसे आ जाने दो, और आकर गुज़र जाने दो,—फिर सोच-सोच कर मुर्दे-सा भारी अपने को मत बनाओ। हलके होकर सचाई के मार्ग पर सहज भावसे चल दो।"

किन्तु शंकर को ढाढस नहीं हुआ। द्वन्द्व से उसे प्रेम था। सत्य

से अभी भय था। जिस भँवर में खिंचा जा रहा है, उसे देखते दहलता था, देखने तक का सामर्थ्य गँवा बैठा था। दहशत मिटनी ही चाहिए, इसी से विराट्, भीष्म, और भयंकर के प्रति आकर्षण की अनिवार्यता है। आकर्षण का प्रयोजन दोनों ओर समभावयुक्त निर्भीकता को सम्पन्न करना है। उसी आकर्षण के वशीभूत होकर अयुक्त उग्रतासे उसने कहा कि कभी वह विनाश की घड़ी न आने देगा, उससे पहले ही अपने को दूर कर लेगा, ओझल हो जायगा, परस्पर सन्देश तक की सम्भावना को असम्भव बना लेगा; दूसरा मकान ले लेगा; हो, तो मिट जायगा,—नहीं, यह कालिख नहीं लगने देगा।

ऐसी ही उग्र स्थिति में वह मुझसे विदा ले गया।

: ४ :

अगले सप्ताह उसका पत्र मिला।

"भाई, कुछ दिनों मैं मुँह छिपाने कहीं बाहर जा रहा हूँ। आत्महत्या नहीं करूँगा। सब कुछ ऐसे हो गया है कि आत्मघात सम्भव नहीं रह गया। मैं उसे समझने में समय लगाऊँगा।

"...अपनी श्रेणी में संगीत में प्रथम रही हैं। एक नाटक भी कन्या-विद्यालय में हुआ था। अभिनय-कौशल में उन्होंने पदक पाया है। बाजा ऊपर हमेशा से अधिक बजता है। पत्र बहुत आने लगे हैं।

"अरे, मैं क्या करूँ? मुझसे दुनिया का मुँह नहीं देखा जाता। दुनिया जाने कैसे हँसती है? और बाजे के पास से भी कभी हँसी आती है,—वह जाने कैसे हँसती है।

"मैं नहीं रह सकता। हँसी सीखूँगा तब आऊँगा।

"तुम्हें यह नहीं मालूम कि पहले पत्र सब खो गए। किसी ने

ले लिये। किसको उनकी भूख थी? लेकिन मुझे उनकी चिन्ता नहीं है। फिर भी डर है, कहीं श्री...के पास तो नहीं पहुँच गए। पर डर व्यर्थ है। उस ओर से भी मेरे जी में चैन नहीं है। कालिख पोतकर एक दिन सोचा था, कहूँ, कि देखो, सुनो, मैं काला हूँ। मैं तुम्हें सब सुनाकर अच्छी तरह बताता हूँ कि मैं कितना काला हूँ। तब मन में कुछ ज्योति-सी जगी थी। पर जगी नहीं कि बुझ गई। ऐसी जमी उपेक्षा से उसने मुझे लिया कि मैं काठ हो रहा। मनकी आग भीतर राख ओढ़ कर रह गई। वह मानो कहना चाहती थी, 'तुम कुछ हो,—मैं नहीं माँगती। मुझे रहने दो, मरने दो। अरे छोड़ो, मरने तो चुपचाप मुझे दो।'

"सो मैं जा रहा हूँ। तुम्हें याद कर सकने की आज्ञा चाहता हूँ। तुम्हारा—शंकर।"

: ५ :

मैं तो सब-कुछ भूल जाता, क्योंकि छः महीने का काल पर्याप्त होता है, कि अचानक शंकर का कार्ड मिला। लिखा था—

"...मैं लौट रहा हूँ। किसी अजान हितैषी ने लिखा, पत्नी विपथगा हैं। मुझे भूल जाने की सुविधा चाहती हैं, छुट्टी चाहती हैं। मैं लौट रहा हूँ कि कहूँ, तुम्हें पूरी छुट्टी है, सब हक है। किन्तु मुझे अपना अनन्य सेवक बना रहने दो, जो कुछ न कहेगा।

"...का विवाह भी सुना है। उनके चरन छूने की साध भी मिटाना चाहता हूँ। तुमसे मिलूँगा। —शंकर।"

और उसी दिन एक और भी पत्र मिला—

"श्रीमन्,

आपको पत्र लिखता हूँ, क्योंकि आप बाबू शंकरदयालजी के

मित्र हैं, और मैं शंकरदयालजी के प्रति अपराधी हूँ। उन्हें सीधे लिखने का साहस मुझ में नहीं है। आपने मुझे देखा है। क्या उस कुरूप, कुचाल, मैले, अधपढ़ और कम सुनने वाले क्लर्क की आप याद कर सकते हैं, जो, जब आप बाबू शंकरदयालजी के यहाँ पधारा करते थे, वाचाल होकर अपनी दो-चार पंक्तियाँ हठात् आपको सुना दिया करता था ? आप कह देते थे, 'अच्छी हैं' और वह सोचता था, क्यों यह कृपा करके कहते हैं, 'अच्छी हैं,' क्यों नहीं खुल कर कह देते कि किसी काम की नहीं हैं, जैसे कि अपने मित्र से कह देते होंगे। क्यों मैं इनकी कृपा का पात्र हूँ, और क्यों मैं इनकी मित्रता और बराबरी का पात्र नहीं हूँ ? और उसी समय बा० शंकरदयाल कहते, 'सुनो, अच्छी है ? सुन लिया न ?—अब चलो, अपना काम करो। वह पार्सल सिओ।' मैं पार्सल सीने लगता था, क्योंकि मुझे चालीसवें रोज बारह रुपये मिलते थे। और कविता को मोड़ कर अंटी में छिपा लेता था, क्योंकि पार्सल-घर अभी जाना होगा, और कविता जब आप फिर आयँगे तभी जाकर सुनाना होगा। अब आपको याद आ गया होगा। उसीने बा० शंकरदयालजी के नाम के कुछ प्रेम-पत्र चुराये और वही मैं हूँ। शुरू में इच्छा थी, कि जानूँ किसने लिखे हैं। पर अब वैसी उत्सुकता नहीं है। अब तो मैं यह मान कर रह रहा हूँ कि ये मेरे प्रति लिखे गये हैं और जिसने लिखे हैं, वह मेरी रानी है। यह पत्र आपको मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि मैं अपराध की क्षमा चाहता हूँ, और कि आप मुझे विश्वास दिला सकें, ये पत्र अब मुझसे न छिनेंगे। मेरा वह सर्वस्व हैं, और उनके कारण किसी का अहित न होगा। बा० शंकरदयालजी चाहें ही, तो, उनकी प्रतिलिपि मैं अपने हाथ से बहुत सुन्दर अक्षरों में करके, उन्हें भेज सकता हूँ।

किन्तु वह सम्पन्न हैं, ऐसे जितने पत्र चाहें उन्हें मिल सकते हैं। मुझे, आप ही सोचें, कौन पूछता है। चोर का पाप उठाकर जो मैंने पाये हैं, और जिन्हें निरन्तर इन छः महीनों के पाठ से मैंने अपना बना लिया है; और जो मेरी रानी के हाथ के हैं—और जिनमें वह मेरी रानी कभी मुझे हँसती, कभी रोती, कभी मुझे चूमती दर्शन देती है—आप का चिरायु कृतज्ञ रहूँगा, वह पत्र मेरे पास रहने देने की उनसे आज्ञा ले लें—आप का भगवान् भला करेगा।

"जी, मुझ से यह मत पूछिएगा, मैंने क्यों चुराये। कुछ होता है जो हो जाता है, कारण-कार्य का भाव जोड़कर उसे किसी तरह बताया नहीं जा सकता। बाबू शंकरदयालजी अकेले में एक दिन एक पत्र पढ़ रहे थे। मेरा काम से कमरे में जाना हुआ, तो उन्होंने जल्दी से उसे कापी में कर लिया। मुझसे क्या डर था? पर, वस्तु ही ऐसी मर्म के भीतर छिपा कर रखने की होगी। उस दिन पाँच-छः बार मुझे उस कमरे में जाना पड़ा। हर बार मैंने उन्हें कुछ कापी में छिपाते हुए पाया।....जी, मैं तेईस बरस का हूँ। बारह बरस की उमर से परदेस में और परदेसियों के बीच में अकेला रहा हूँ। किसी ने मुझे नहीं पूछा, और, मैं पूछे जाने के लिए तरसता रहा।...जी, जी हरेक में होता है। मैं सोचता हूँ, क्यों होता है? विधाता क्यों हमें बिना उसके नहीं बना देता, कि हम दर्द मिटा नहीं सकते, तो उसे अनुभव किये बिना तो रहें।...जब साँझ डूबती होती थी, और सड़क की बत्तियाँ जल जातीं, और नेक काम से चैन पाकर मैं ऊपर देखता, ऊपर तारे निकलते होते, और बाहर लोग खुश-खुश इधर से आ रहे होते और उधर चले जा रहे होते; और उनमें स्त्रियाँ भी होतीं; स्त्रियाँ! जिन्हें रोज

ऐसे देखता जैसे सपने देखता हूँ, जिनमें स्पर्श नहीं, सौरभ है, वह भी जाने है या नहीं; और देखता, वे व्यस्त हैं, मैं मैला हूँ; वे मिल-जुलकर आ-जा और हँस बोल रही हैं और मैं अकेला हूँ; इन अनगिनत तारों के नीचे और असंख्य जानों के बीचमें मैं एक हूँ, अकेला हूँ; तब होता, मैं क्यों अकेला हूँ ? जीमें होता, क्यों नहीं मेरे पास भी कुछ है, जिसे झट दौड़कर चुंगी की बत्ती की रोशनी में मैं खोल देखूँ, जिसे दूसरों की आँखों से बार-बार मैं भी छिपाऊँ, और अपनी आँखों के लिए बार-बार प्रकट करूँ; सदा अपनी भीतरी जाकट की उस जेब में रखूँ, जिसके नीचे छाती हर-घड़ी धुक्-धुक् करती है, और अकेला होऊँ कि पढ़ लिया करूँ। जी ऐसी ही कल्पनाओं को लेकर रोया करता था।...सो जब बाबूजी को देखा, मन एक संकल्प से भर-सा आया। मैं चोरी कभी कर सकता था ? पर यह चोरी मुझे चोरी नहीं लगी। पन्द्रह दिन उसमें लगाये।...किन्तु, चित्त दुखता ही रहा, और आज, जी, मैं लिख रहा हूँ, और माफी माँग रहा हूँ। आप सब लोग मुझे माफ कर दें। मेरा प्रणाम।

विनयावनत—रामदीन"

: ६ :

दोनों पत्र मैंने पाये, और सोचा, सब ठीक है। अब सब ठीक है। इसलिए तब सब ठीक था।

ग्रामोफोन का रिकार्ड

वह अन्त में पलंग पर उठ बैठी। अलस बैठी, अँगड़ाई ली और बालों पर हाथ फेरने लगी। साड़ी का उसे पता न था और बाल अस्त-व्यस्त थे। उठी, उठकर बड़े आइने के सामने गई, बाल ठीक किये, अपने से हरषाई, खिजलाई, फिर अँगड़ाई ली और लौटकर वह पलंग की पट्टी पर आ बैठी।

दुपहरी का वक्त है, कमरा तीसरी मंजिल पर है। वहाँ से बाज़ार भी दीखता है, जहाँ सदा चहल-पहल रहती है। कमरा सब तरह के आराम से भरा है। इस कमरे में बैठी-बैठी वह एक घड़ी बिताती है और यह सोच कर उसे चैन पड़ता है कि चलो, यह बीती। लेकिन फिर आगे आती हुई घड़ी की ओर देखकर सोचती है, अब ?

रमणी की अवस्था बीस-बाईस से अधिक नहीं है। पति एक मिल के सेक्रेटरी हैं। अच्छे सम्पन्न हैं, अच्छे शिक्षित, सभ्य, सुन्दर और स्नेहशील। एक दूसरी मिल खड़ी करने की बातें चल रही हैं, उसमें बहुत व्यस्त रहते हैं। कोई बाल-बच्चा नहीं है और यह रमणी ग्यारह-बारह बजते, तब सब खाने-पीने से निबटकर यहाँ

अपने इस कमरे में आ जाती है और नहीं जानती क्या करे क्या न करे।

सोना चाहती है और कभी नींद भी आ जाती है। आ जाती है, तब तो ठीक, जब नींद नहीं आती तब वक्त सिर पर बेहद भारी हो जाता है। कोई सखी सहेली आ जाय तो क्या बात, नहीं तो वह सामान से भरे इस कमरे में अलस डोलती हुई, सूनी घड़ियों से निबटने को अकेली रह जाती है और त्रास पाती है। तब, न हुआ तो कभी हारमोनियम खोलकर कुछ देर उस पर अँगुली चला लेती है, कभी ग्रामोफोन को गवाती है, कभी आलमारी से उपन्यास खींचकर पढ़ने लगती है, नहीं तो किसी नौकर-चाकर को बुलाकर उसी से इधर-उधर की बातें करती है।

उसके मन में प्रतीक्षा भरी बैठी रहती है। उस प्रतीक्षा में वह चिहुँक-चिहुँक पड़ती है, अब वह आ जायँ तो ? अब वह आ जायँ तो ? यह नहीं कि स्वामी दोपहर को कभी घर आ नहीं सकते। किन्तु, वह कामकाजी आदमी हैं और अनियमितता कहीं भी उन्हें पसन्द नहीं है। सब काम को समय होना चाहिए और तरीका होना चाहिए। प्रेम के लिए क्या व्यक्ति अनियन्त्रित बने ?

वह आते तो कहते, "कहो डियर, वह किताब तुमने पढ़ी ? अच्छी लगी ?"

पत्नी कहती, "हाँ, अच्छी लगी।"

"हाँ, किताब वह अच्छी है। बस, ऐसे ही अँग्रेजी आ जायगी......अच्छा बसन्तिया को बुलाओ तो, कहो तश्तरियाँ ले आवे।"

वह बसन्तिया को बुला देती और तश्तरियाँ आ जातीं। नाश्ता हो जाता और इसी तरह दस-पन्द्रह मिनट निकाल कर मिस्टर

कपूर कहते, "अच्छा डियर, तो मुझे चलने दो।" और वह चले जाते।

उनके चले जाने पर वह उठती। जिस किताब को उन्होंने कहा होता, उसे खींचकर बिस्तर पर औंधी पटक देती, और कमरे में इधर-उधर टहलती। अन्त में पलंग पर गिरकर दो-चार पन्ने उस किताब के पढ़ने की भी चेष्टा करती।

उसके मन को थिरता नहीं थी। वह अपने को कहाँ बाँधे? उस मन के भीतर पढ़ाई भी है और प्रेम भी है। लेकिन वह मन अपने को जैसे अस्वीकृत पाता है। किसने उसे ले लिया है? जिसके लिए उसका वह मन रहता है, तीनों लोकों में जो उसका अधीश्वर रहता है, वह आदमी तो एकदम उसे सोने में और ऐश्वर्य में डुबो देना चाहता है—वह उसे ऐसा प्यार करता है। पर इसके क्या वह योग्य है? क्या वह इतने संयत और कर्मठ प्रेम को झेल सकती है जो उसे आलिङ्गन न देकर आभूषण देता है? वह इसी से अपने को निराभरणा, निरलंकृता, पूजा की सामग्री की भाँति, शुचि-उज्ज्वल और धूप-शिखा की भाँति श्यामल रखती है कि वह प्रभु पर अर्पित हो और स्वीकृत हो। उसके मन में अव्याहत, अलक्षित कुछ उठता रहता है, जो काला-काला बादल-सा घुमड़ता है,—बरसता नहीं। जो एकीकृत हो राग नहीं बन पाता, न सङ्गीत, और जो बिखरा-ही-बिखरा लय हो जाता है। वह अपने कमरे के भीतर-ही-भीतर घूमती है, अपने हृदय के व्यथा-भार को लेकर कि क्या करे, क्या करे?

जब नदी जलवती होती है और लता फलवती, तब क्या उनमें उनके हृदय का समस्त रस भर-कर उमड़ नहीं आता है? स्त्री के माता होने में ही स्त्रीत्व की क्या सम्पूर्ण कृतार्थता और

संतृप्ति नहीं है ? किसलिए स्त्री उमगती है, लजाती है, बढ़ती है ? और भागता हुआ पुरुष क्यों उसमें खिंचा चला आता है ? क्या यही नहीं कि उसे विश्वात्मा में अपना स्वत्व-दान करना है; फल-दान करना है ?

जो हो, यह श्रीमती कपूर एक अनिर्दिष्ट अभाव को भीतर लेकर दुपहरी की घड़ियों में निरानन्द अपने कमरे में सो-सो कर और उठ-उठकर सोचती है—वह क्या करे ? अरे, वह क्या करे ? उसे कुछ करना नहीं है। सब काम करती है, पर मानो वे उसके करणीय कर्म ही नहीं हैं। वे उसे तनिक भी नहीं भरते। उनको करके जैसे वह अपने उद्दिष्ट कर्म का तनिक भी अंश नहीं भर पाती। उद्दिष्ट कर्म ? इस विश्व की योजना में क्या कर्म उसका उद्दिष्ट है, क्या उससे इष्ट है ? किस अन्तिम फल के लिए वह यहाँ है ? वह यह कुछ नहीं जानती। लेकिन, भीतर का समस्त प्राण-रस जिसकी ओर कण्टकित हुआ उन्मुख बैठा है, क्या वही उसका परम कर्म नहीं है ? वही उसकी सिद्धि और वही उसके लिए धर्म नहीं है ? उससे किस अन्य परम अर्थ की अपेक्षा हो सकती है ?

किन्तु वह इस अपनी परमाकांक्षा, परम सार्थकता, परम सफलता को कैसे सम्पन्न पाये ? अरे कैसे ? वह क्या करे ? कोई बताओ, वह क्या करे ?

: २ :

उसे एक रिकार्ड बहुत ही मन भा गया है। दूसरे के यहाँ वह रिकार्ड उसने पहले-पहल बजते हुए सुना था। वह जैसे उसके मन की बात को छीन कर ही बना हो। वही वह बजाती है, वही सुनती है, वही गुनगुनाती है। रिकार्ड मशीन पर बैठ जाता है

और वह आँखें मूँद लेती है और रिकार्ड घूम-घूमकर गाना शुरू करता है—

सैयाँ तोरी गोदी में गेंदा बन जाऊँगी। सैयाँ०
जब मेरे सैयाँ को प्यास लगेगी,
गङ्गा-जमना तिरबेनी बन जाऊँगी। सैयाँ०
जब मेरे सैयाँ को भूख लगेगी,
पूरी कचौरी जलेबी बन जाऊँगी। सैयाँ०

वह आँख बन्द किये इस राग के पङ्खों पर बैठी, हिंदोले में झूलती, निराली, उस देश में पहुँच जाती है, जहाँ सोना और सामान नहीं है और वह बस सैयाँ की गोद में फूली-फूली गेंदा बनी पड़ी है, तुड़-मुड़कर बस रसभरी जलेबी-सी सैयाँ की आँखों के आगे बिछी है। हाँ, वह क्यों नहीं सैयाँ की प्यास के लिए तिरबेनी है? वह सैयाँ को अपनी त्रिवेणी की धारा में खींचकर सबका सब डुबो लेगी, पूरी तरह अपने में ले लेगी।...और गीत चलता ही जाता है—

सैयाँ तोरी गोदी में०
जब मेरे सैयाँ को निंदिया लगेगी,
तोशक, तकिया और गद्दा बन जाऊँगी।

अबके सैयाँ आये तो वह कहेगी, देखो, तुम अच्छी तरह गोदी बनाकर बैठो। मैं अभी तुम्हारी गोदी में गेंदा बन कर दिखाती हूँ। देखो, ऐसे, और ऐसे मैं गेंदा बन जाऊँगी। और मैं त्रिवेणी भी बनूँगी, और मैं जलेबी भी बनूँगी। सैयाँ, मैं तुम्हारे लिए सभी कुछ बन जाऊँगी। तुम कुछ मत करो, बस देखते ही रहो मैं कैसे-कैसे क्या क्या बनती हूँ।

इसी तरह के भाव में मग्न थी, तभी उसी ओर आते हुए स्वामी के पैरों की आहट उसने पाई। झट ग्राफोमोन बन्द किया और झपट कर चादर ले वह पलँग पर आ लेटी। लेट कर धीमे-धीमे खर्राटे लेने लगी। सोचती जाती थी—मेरी चादर हटा कर वह कहेंगे, "ओ विजी सोती हो ?"

मैं करवट लेकर कहूँगी, "ऊँ—ऊँ—ऊँ।"

वह कहेंगे, "अजी विजया महारानी, उठो।"

मैं कहूँगी, "हटो जी, हमें मत छेड़ो, हाँ—तो। हमें नींद आ रही है।"

वह उठायेंगे—मैं नहीं उठूँगी, नहीं उठूँगी, नहीं उठूँगी।

मिस्टर कपूर कमरे में आ गये। विजया के कान सुनते रहे—आ गये, आगये। वे कान चौकन्ने हो रहे कि देखते रहो, वह क्या करते हैं ? और वह खर्राटे भी भर रही थी !

उन्होंने आकर आलमारी की चाबी टटोली। यहाँ देखी। वहाँ देखी। नहीं मिली तब तकिये के नीचे देखना चाहा। तकिये के नीचे हाथ डाला कि विजया ने करवट ली, किया—'ऊँ—ऊँ—।' अर्थात्—'हाँ, मैं सोती हूँ। लेकिन अजी, तुम बेखटके मुझे जगा कर देखो। सच, मुझे जगा लो।'

तकिये के नीचे से उन्होंने जल्दी से हाथ खींच लिया और चिन्ता की कि विजया की नींद न उचट जाय। उस के बाद फिर चाबी इधर-उधर देखी। इसी में एक तश्तरी झन्न से फर्श पर गिरी।

विजया ने नींद से चौंक कर कहा, "क्या है ?"

"ओ डियर, कोई बात नहीं। माफ करना। मैं तुम्हें जगाना नहीं चाहता था। आलमारी की चाबी कहाँ है ?"

"हमें नहीं मालूम । हाँ—तो, दुपहरी में भी हमें चैन नहीं है। ..." कहा और विजया मुँह फेर कर और उस पर चादर लेकर फिर सो गई !

इस समय उसका मन रोने को आ गया। उसे बिल्कुल पता न रहा कि यही सैयाँ हैं, जिनकी गोद में वह गेंदा भी बन ले, जलेबी भी बन ले या और जो चाहे बन ले । समस्त विश्व में इस एक आदमी ही की गोद में उसके लिए सब बनने की छुट्टी है । वह सोचने लगी कि यह आदमी क्यों नहीं अपना काम झटपट ख़तम करके यहाँ से दूर हो जाता !

किन्तु चाबी का गुच्छा जल्दी नहीं मिला और दो-एक मिनट होने पर विजया को फिर हठात् धीमे-धीमे ख़र्राटे भरना शुरू कर देना पड़ा।

अन्त में चाबी मिल गई और आलमारी में से चैक-बुक निकाल जेब में डाल कर मि० कपूर चलने को हुए। उस समय वह एक क्षण रुके और सोचने लगे—इसकी नींद को मैंने व्यर्थ ही तोड़ा। अब क्या मैं उसके लिए इससे क्षमा की प्रार्थना न करता चलूँ।

विजया को पता था, वह सिरहाने ठिठके खड़े हैं। उसने मानो गहरी नींद में करवट ली। इससे अंग के काफ़ी भाग पर से चादर बेख़बर हट गई।

'क्या विजया की असावधानी में उसका अंगदर्शन नीतिगत है ? नहीं—नहीं।' उस समय इस प्रकार सोचते हुए मिस्टर कपूर दबे मन, दबे पाँव, कि आहट न हो, बाहर चले गये।

वह गये । विजया उठी और नीचे पैर लटका कर पलँग की पट्टी पर बैठ गई। हाथ देकर उसने बाल सम्हाले । अँगड़ाई ली

और आइने के सामने खड़ी होकर अपने को देखने लगी। देखती रही। उसने कोसा कि क्यों उसका सौन्दर्य उस पर से अब तक तनिक ढलकर नहीं गया है। यह कम्बख्त किस निमित्त वहाँ वैसा का वैसा ही अड़ा खड़ा है, जब कि उसका कोई हेतु नहीं है, उसकी माँग नहीं है, उसने चाहा कि वह कुछ अपरूप क्यों न हुई? विकृताङ्ग क्यों न हुई? तब वह पा तो सकती कि वह क्यों अस्वीकृता है। कुछ होता तो उसके पास जो स्वयं सब दोष का भागी बनकर उसे चैन से रखता। अब चारों ओर से प्रशंसित इस रूप को लेकर क्या वह वञ्चिता, अभागिनी, अपने अभाग्य का दोष अपने पति पर डाले?

तभी वह सहसा मुड़कर निश्चयपूर्वक कहती है, "नहीं, नहीं, नहीं...।" और गुनगुनाती है, "सैयाँ की गोदी में...।"

: ३ :

समय अलसाया जा रहा था। वह घूमी, टहली, बालों में कङ्घी की, साड़ी बदली, किताब पढ़ी, यह किया, वह किया और फिर सिर पर समय को वैसा ही भरा खड़ा पाकर ग्रामोफोन के पास आ बैठी। ग्रामोफोन ने गाना आरम्भ किया—

सैयाँ तोरी गोदी में...।
जब मोरे सैयाँ को...

उसकी आँख मुँद गई और गायन एक स्वर चढ़ा—

...अरे भूख लगेगी,
बर्फ़ी पेड़ा, गुलाबजामुन बन जाऊँगी।
सैयाँ तोरी...

इस गीत में उसका आधार है, इसमें बल है। इसके स्वरों में

जैसे वह चाशनी-सी घुल जाती है। उसके भीतर की रिक्तता में यह गीत आकुल आप्लावन ला देता है और हृदय के किनारे तक डूबने-डूबने को हो जाते हैं। तब मानो दुःख का बोध लीन हो जाता है और सुख की चाह के लिए भी अवकाश नहीं रहता। यह मिठास और कड़वाहट के स्वाद से एकदम भिन्न प्रकार की निमग्नता वह अपने उच्छलित प्रेम के बल से अपने लिए सृष्ट कर लेती है और आप ही उसमें डूबती उतराती है।

फ़ोन की चूड़ी नाच-नाचकर कह रही थी—

गेंदा बन जाऊँगी, सैयाँ की गोदी में...।

वैरिस्टर मनमोहन इस अक्षुण्ण, अतरङ्गित, दीपशिखा पर हैरान थे। वह शलभ न थे; पर झुलस उनको भी लगती थी। यह अपने ही स्नेह को प्रति क्षण पान करती हुई प्रदीप-शिखा की भाँति प्रकाश बिखेरती हुई निष्कम्प, ऊर्जस्वित, अरक्षणीया, अकेली खड़ी है, इस पर उन्हें विस्मय था। मन की पीड़ा भी थी। यह लौ न वक्र होती है न व्यर्थ होती है। अपने आप में धन्य नहीं है, जल रही है, यह भी उसके प्रदीप्त मुख पर कहीं प्रकट नहीं होता। वैरिस्टर मनमोहन सद्विचारशील और सद्भावनाशील और सहृदय व्यक्ति हैं। वह किसी के प्रति अप्रस्तुत नहीं हैं। किन्तु—

किन्तु यह नारी, यह विजया, मनमोहन की सद्भावना को क्या कभी निमन्त्रण दे सकी है? क्या कभी इस नारी ने अपने अत्यन्त भीतरी क्षत को उसकी सहानुभूति का तनिक भी स्पर्श, तनिक भी सेंक लगने दिया है? नहीं, वह अपने व्रण को भीतर-ही-भीतर अतिशय सुरक्षित, सेव्य, अति गोपनीय और अस्पृश्य बनाये है। इसलिए विजया को कोई अड़चन नहीं है कि मनमोहन उसका मित्र हो, वह आये-जाये, मिले-जुले और वे दोनों हँसे-बोलें।

मनमोहन ने सामने जीवन में पहली बार यह खुलेपन की अनुल्लङ्घनीय बाधा पाई है। जहाँ कुछ छिपाव हो, दुराव हो, आँख जहाँ जरा नीचे भी होती हो, वहाँ मनमोहन निःशङ्क है। जहाँ आरम्भ से ही निःशङ्कित व्यवहार है और हँसी में निर्व्याज उल्लास, और जहाँ सङ्कोच का निरा अभाव है, वहाँ मनमोहन जैसे निरस्त्र है। वहाँ मनमोहन को ढाने के लिए जैसे कोई प्रतिबन्ध ही नहीं है। और भीतर से वासना और प्रेरणा को उमगा कर लाने के लिए जैसे मनमोहन के लिए बाहर किसी तरह की चोट, कोई तिनका, कोई बहाना ही नहीं पाता है।

मनमोहन का इस घर में खुला आना-जाना है। और सच ही विजया की तबीयत भी उससे कम नहीं बहलती। विजया के भीतर एक तरह की इच्छा सुलगी-सी भी रहती है कि मनमोहन आये। वह आदमी को देवता नहीं सोचती, न अपने को देवी समझती है। मनमोहन के बारे में भी उसकी आँखें झँपी नहीं हैं। लेकिन अपने को बिना खोये जो वह पाती है उस पाने का रस उसे अच्छा ही लगता है। मनमोहन की वृत्ति की ओर से पूर्णतया विश्वस्त न होते हुए भी उसको प्रीतिकर लगता है, कि वह आये। और उसके आते रहने के लिए विजया उसकी कृतज्ञ ही है।

चूड़ी चल रही थी, "सैयाँ की गोदी में......गेंदा बन जाऊँगी...।"

विजया मौन, मूक, निस्पन्द, घुली-सी जाती हुई बैठी थी।

मनमोहन के आने का उसे पता चला। उसकी आँख आधी खुली और अनायास उसने कहा, "आओ।"

मनमोहन बेलाग आकर आराम-कुरसी पर बैठ गया। उसने कभी पहले ये आँखें ऐसी आधी खुली न देखी थीं। उसका मन

एक साथ ही जैसे फुहार के नीचे आकर भींज-सा उठा। अनाहूत आकांक्षाएँ जैसे आप-ही-आप जग आईं और जैसे क्षणों-क्षणों में बिना बीज के उग आकर एकदम पल्लवित और पुष्पित हो झूमीं। और मानो उन्हें अब अधिकारतः फल की भी माँग हो आई। जिनका स्वप्न में भी अङ्गीकरण न किया था, वे ही आकांक्षाएँ एकदम पूर्ण यौवन में हुलसित मनमोहन के भीतर लहलहा आईं।

उसने कहा, "भाभी, बड़ा अच्छा रिकार्ड है।"

विजया निर्बोध मुस्कराई, जैसे कहा, "है न अच्छा।"

जिसकी गोद में उसे गङ्गा, जमना, त्रिवेणी होकर बहना है वही तो है, उससे शेष होकर और क्या है? उसे जैसे लग रहा है, 'मनुष्य बस वही है। संसार वही है। आकांक्ष्य वही है। और आकांक्ष्य जो है, 'सैयाँ' छोड़ वह और क्या हो सकता है?' उसे सब कुछ अपने सैयाँमय-सा ही लग रहा है।

मनमोहन ने अपनी कुर्सी आगे बढ़ाकर धीरे से अपने एक हाथ में उसका एक हाथ थाम लिया। विजया ने कृतज्ञ भाव से उसकी ओर देखा और मुग्ध कानों से सुना—

"सैयाँ तोरी गोदी में...।"

मनमोहन के शरीर में सिहरन की लहर आई, शरीर में काँटे उठने लगे। उसने कहा, "भाभी, भाभी!" और अपने हाथ में पड़े हुए इच्छाशून्य कोमल हाथ को ज़ोर से दबाया।

विजया उसी द्रवीभूत भाव से भरी, अधखुली और अधमुँदी आँखों से मनमोहन को बस देखकर रह गई। मानो वह उसे और अपने को कहना चाह रही है, "सैयाँ की गोदी में, देखो, मैं इस भाँति गेंदा बन जाऊँगी।"

मनमोहन का वश अपने पर से उठता गया। उसने भर्राए

कण्ठ से कहा, 'भाभी, भाभी !" और एकदम उठकर पलङ्ग पर बैठकर भाभी को उसने अङ्क में भर लिया। बोला, "ओ मेरी पगली रानी, भाभी !"

विजया ने पाया—सैयाँ की गोदी में पड़कर पँखुरियों से सजे गेंदे और रस से भरी जलेबी, और त्रिवेणी, और गद्दा-तोशक, सबके बनने का समय उसका अब आया है ! वह नितान्त अवश उसकी गोद में बिखरी-बिखरी हो पड़ी।

वहाँ उस गोद में लेटी वह पानी-पानी होकर बह जायगी। मनमोहन ने उसे बटोर कर अत्यन्त मोहाविष्ट हो जोर से उसका चुम्बन लिया। लिया कि उसी क्षण पास रखी मेज़ पर से टाइमपीस झन्नन करती हुई नीचे आ पड़ी। यह आवाज़ मोहपटल को चीरती हुई विजया के भीतर तक पहुँच गई। वह चौंकी, उठी और,—भौंचक रह गई ! सुन्न, वह खड़ी की खड़ी ही रही। उसने मनमोहन को देखा, मानो उस देखने में दृष्टि न थी। मनमोहन उसी की तरफ़ देख रहा था।

विजया के मुँह से निकला, "तुम ! तुम !!"

मनमोहन के चेहरे पर, फक, विस्मय लिख गया।

विजया आगे कुछ न कह सकी, माथा पकड़ कर एकदम धम से फ़र्श पर बैठ गई और धरती देखती हुई रोने लगी।

मनमोहन ने पास आकर, बैठकर, कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "भाभी ! विजया ! क्या बात है ?"

अपने हाथों से उसे अलग हटाते हुए विजया ने कहा, "तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, तुम जाओ। चले जाओ, अभी चले जाओ "

मनमोहन ने कहा, "क्या है ?"

"हाथ जोड़ती हूँ, हा-हा खाती हूँ, तुम अभी चले जाओ।

देखो तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।" और उसने मनमोहन के पैरों की ओर अपने हाथ बढ़ाये।

मनमोहन खो गया। उसको कुछ भी सूझा नहीं। वह पत्थर की मूरत बना वहाँ खड़ा ही रह गया। उसने सुना—

"चले जाओ। नहीं तो पटक कर मैं अपना सिर यहीं फोड़ डालूँगी।"

सुनकर मनमोहन का अपने पर कुछ भी वश न रहा। मुँह झुकाए वह चुपचाप चला गया।

: ४ :

जब शाम को स्वामी आये, विजया ने गुस्से से कहा, "नहीं, यह झूठ है कि तुम मुझे प्रेम करते हो। तुम मुझे प्रेम नहीं करते। मुझे अपने घर भेज दो। मैं वहीं रहूँगी, वहीं रहूँगी।"

स्वामी ने कहा, "तो चली जाना, पर ऐसी क्या बात हुई?"

"नहीं, मुझे तुम्हारा प्रेम नहीं चाहिए। मैं तुम से नहीं बोलूँगी। मैं अँग्रेजी नहीं जानती इसी से तो—। मैंने तुम्हें देख लिया।"

आशय, कि विजया अपने सैयाँ को छोड़ कुछ दिन के लिए चली ही गई। और पति तर्क-पूर्वक भली-भाँति कायल हुए बिना न रह सके कि अन्याय उन्हीं का है और वह पात्र हैं कि विजया उनसे न बोले।

जाह्नवी

आज तीसरा रोज़ है।—तीसरा नहीं, चौथा रोज़ है। वह इतवार की छुट्टी का दिन था। सबेरे उठा और कमरे से बाहर की ओर झाँका तो देखता हूँ, मुहल्ले के एक मकान की छत पर काँओ-काँओं करते हुए कौओं से घिरी हुई एक लड़की खड़ी है। खड़ी-खड़ी बुला रही है, "कौओ आओ, कौओ आओ।" कौए बहुत काफी आ चुके हैं; पर और भी आते-जाते हैं। वे छत की मुँडेर पर बैठे अधीरता से पंख हिला-हिला कर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौओं की संख्या से लड़की का मन जैसे भरा नहीं है। बुला ही रही है, "कौओ आओ, कौओ आओ।"

देखते-देखते छत की मुँडेर कौओं से बिल्कुल काली पड़ गई। उनमें से कुछ अब उड़-उड़ कर लड़की की धोती से जा टकराने लगे। कौओं के खूब आ घिरने पर लड़की मानो उन आमन्त्रित अतिथियों के प्रति गाने लगी—

"कागा चुन-चुन खाइयो....।"

गाने के साथ उसने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़कर नन्हे-नन्हे टुकड़े भी चारों ओर फेंकने शुरू किये। गाती जाती

थी। "कागा चुन-चुन खाइयो....।" वह मग्न मालूम होती थी और अनायास उसकी देह थिरक कर नाच-सी आती थी। कौए चुन-चुन खा रहे थे और वह गा रही थी—

"कागा चुन-चुन खाइयो...।"

आगे वह क्या गाती है, कौओं की काँव-काँव और उनके पंखों की फड़फड़ाहट के मारे साफ़ सुनाई न दिया। कौए लपक-लपक कर मानो टूटने से पहले उसके हाथों से टुकड़ा छीन ले रहे थे। वे लड़की के चारों ओर ऐसे छा रहे थे मानो वे प्रेम से उसको ही खाने को उद्यत हों। और लड़की कभी इधर कभी उधर झुक कर घूमती हुई ऐसे लीन भाव से गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी समाप्त होने लगी। कौए भी यह समझ गए। जब अन्तिम टुकड़ा हाथ में रह गया तो वह गाती हुई उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई ज़ोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा ऊपर आसमान की ओर फेंका, "कौओ खाओ, कौओ खाओ।" और बहुत से कौए एक ही साथ उड़कर उसे लपकने झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की मानो आनन्द में चीखती हुई-सी आवाज़ में गा उठी—

"दो नैना मत खाइयो, मत खाइयो...
पीउ मिलन की आस"

रोटियाँ खत्म हो गईं। कौए उड़ चले। लड़की एक-एक कर उनको उड़कर जाता हुआ देखने लगी। पल-भर में छत कोरी हो गई। अब वह आसमान के नीचे अकेली अपनी छत पर खड़ी थी। आसपास बहुत से मकानों की बहुत-सी छतें थीं। उन पर कोई होगा, कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौओं को उड़ते जाते

हुए देखती रह गई। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। लड़की के ओंठ खुले थे, दृष्टि थिर थी। जाने भूली-सी वह क्या देखती रह गई थी।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जागकर अपने आस-पास के जगत् को भी देखा। इसी की राह में क्या मेरी ओर भी देखा? देखा भी हो; पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था। उसके देखने में सचमुच कुछ दीखता ही था, यह मैं कह नहीं सकता। पर, कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति, चेतन हो आई। तब फिर बिना देर लगाए चट-चट उतरती हुई वह नीचे अपने घर में चली गई।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूँ, कि कौए कहाँ-कहाँ उड़ रहे हैं, और वे कितनी दूर चले गये हैं। क्या वे कहीं दीखते भी हैं? पर मुश्किल से मुझे दो-एक ही कौए दीखे। वे निरर्थक भाव से यहाँ बैठे थे, या वहाँ उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए। उनकी काली देह और काली चोंच मन को बुरी लगी। मैंने सोचा कि "नहीं, अपनी देह मैं कौओं से नहीं चुनवाऊँगा। छिः, चुन-चुन कर इन्हीं के खाने के लिए क्या मेरी देह है? मेरी देह और कौए?—छी।"

जान पड़ता है खड़े-खड़े मुझे काफ़ी समय खिड़की पर ही हो गया; क्योंकि इस बार देखा कि ढेर-के-ढेर कपड़े कन्धे पर लादे वही लड़की फिर उसी छत पर आगई है। इस बार वह गाती नहीं है, वहाँ पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है और फिर उन कपड़ों में से एक-एक को चुनकर, फटककर, वहीं छत पर सुखा देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की गिनती काफ़ी रही होगी। वे उठाए जाते रहे, फटके जाते रहे, फैलाए जाते रहे; पर उनका अन्त शीघ्र आता न

दीखा। आखिर सब खत्म हो गये तो लड़की ने सिर पर आये हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उसने एक अँगड़ाई ली, फिर सिर को ज़ोर से हिलाकर अनबँधे अपने बालों को छिटका लिया और धीमे-धीमे वहीं डोलकर उन बालों पर हाथ फेरने लगी। कभी बालों की लट को सामने लाकर देखती फिर उसी को लापरवाही से पीछे फेंक देती। उसके बाल गहरे काले थे और लम्बे थे। मालूम नहीं उसे अपने वैभव पर सुख था या दुख था। कुछ देर वह उँगलियाँ फेर-फेरकर अपने बालों को अलग-अलग छिटकाती रही। फिर चलते-चलते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा समेटकर झटपट जूड़ा-सा बाँध, पल्ला सिर पर खींच, वह नीचे उतर गई।

इसके बाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आई हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और ब्याह न करके कालिज में पढ़ती है। मैंने कहा, "सुनो, यहाँ आओ।"

उसने हँसकर पूछा, "यहाँ कहाँ ?"

खिड़की के पास आकर मैंने पूछा, "क्यों जी जाह्नवी का मकान जानती हो ?"

"जाह्नवी ! क्यों, वह कहाँ है ?"

"मैं क्या जानता हूँ कहाँ है। पर देखो, वह घर तो उसका नहीं है ?"

उसने कहा, "मैंने घर नहीं देखा। इधर उसने कालिज भी छोड़ दिया है।"

"चलो अच्छा है।" मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला। क्योंकि वह पूछने-ताछने लगी थी कि क्या काम है, जाह्नवी को मैं क्या और कैसे और क्यों जानता हूँ। सच यह था कि मैं रत्तीभर उसे नहीं जानता था। एक बार अपने ही घर में इसी साली की

कृपा और आग्रह पर एक निगाह एक को देखा था। बताया गया था कि वह जाह्नवी है, और मैंने अनायास स्वीकार कर लिया था कि अच्छा, वह जाह्नवी होगी। उसके बाद की सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जाह्नवी का क्या बन गया और क्या नहीं बना। पर किसी सचाई को बहनोई के मुँह से सुनकर स्वीकार कर ले तो साली क्या। तिस पर सचाई ऐसी कि नीरस। पर ज्यों-त्यों मैंने उसे टाला।

बात-बात में मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जाह्नवी को जानती हो, ऐसी ही तुम साथ पढ़ती थी कि जरा बात पर कह दो 'मालूम नहीं।' लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं।

इसके बाद सोमवार हो गया, मङ्गलवार हो गया और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है। चौथा रोज है। हर रोज़ सबेरे खिड़की पर दीखता है कि कौए काँव-काँव, छीन-झपट कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटी के टुकड़ों के मिस कह रही है—

"कागा चुन-चुन खाइयो...... ।"

मुझको नहीं मालूम कि कौए जो कुछ उसका खाएँगे उसे कुछ भी उसका सोच है। कौओं को बुला रही है, "कौओ आओ, कौओ आओ," साग्रह कह रही है, "कौओ खाओ, कौओ खाओ।" वह खुश है कि कौए आगये हैं और वे खा रहे हैं। "पर एक बात है कि ओ कौओ, जो तन चुन-चुनकर खा लिया जायगा, उसको खा लेने में मेरी अनुमति है। वह खा-खूकर तुम सब निबटा देना। लेकिन ऐ मेरे भाई कौओ, इन दो नैनों को छोड़ देना। इन्हें कहीं मत खा लेना। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनों में एक आस बसी है जो पराये के बस है। वह नैना पीउ की बाट में हैं। ऐ कौओ, वे मेरे नहीं हैं, मेरे तन के नहीं हैं। वे पीउ की आस को

बसाए रखने के लिए हैं। सो, उन्हें छोड़ देना।"

आज सबेरे भी मैंने यह सब-कुछ देखा। कौओं को रोटी खिलाकर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत-से कपड़े धोकर लाई। उसी भाँति उन्हें झटककर सुखा दिया। वैसे ही बाल छितराकर थोड़ी देर डोली। फिर सहसा ही उन्हें जूड़े में सँभालकर नीचे भाग गई।

जाह्नवी को घर में एक बार देखा था। पत्नी ने उसे ख़ास तौर पर देख लेने को कहा था। और उसके चले जाने पर पूछा था, "क्यों, कैसी है?"

मैंने कहा था, "बहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों?"

"अपने बिरजू के लिए कैसी रहेगी?"

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुँचा है।

मैंने कहा, "अरे, ब्रजनन्दन! वह उसके सामने बच्चा है।"

पत्नी ने अचरज से कहा, "बच्चा है। बाईस बरस का तो हुआ।"

"बाईस छोड़ बयालीस का भी हो जाय। देखा नहीं कैसे ठाठ से रहता है। यह लड़की देखो, कैसी बस सफ़ेद साड़ी पहनती है। बिरजू इसके लायक कहाँ है। यों भी कह सकते हो कि यह बिचारी लड़की बिरजू के ठाठ के लायक नहीं है।"

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग थी। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि पत्नी जी की कोशिशों से जाह्नवी के माँ-बाप से (—माँ के द्वारा बाप से) काफी आगे तक बढ़कर बातें कर ली गई हैं। शादी के मौके पर क्या

देना होगा, क्या लेना होगा, एक-एक कर सभी बातें पेशगी तय होती जा रही हैं।

इतने में सब किये-कराये पर पानी फिर गया। जब बात कुल किनारे पर आ गई थी, तभी हुआ क्या, कि हमारे व्रजनन्दन के पास एक पत्र आ पहुँचा। उस पत्र के कारण एक दम सब चौपट हो गया। इस रङ्ग में भङ्ग हो जाने पर हमारी पत्नीजी का मन पहले तो गिरकर चूर-चूर-सा होता जान पड़ा; पर, फिर वह उसी पर बड़ी खुश मालूम होने लगीं!

मैं तो मानों इन मामलों में अनावश्यक प्राणी हूँ ही। कानों-कान मुझे खबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह—

पत्नी एक दिन सामने आ धमकीं। बोलीं, "यह तुमने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया?"

मैंने कहा, "जाह्नवी के बारे में मैंने पहले से क्या नहीं बतलाया भाई?"

"यह कि वह ऐसी है?"

मैंने पूछा, "ऐसी कैसी?"

उन्होंने कहा, "अब बनो मत। जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम।"

मैंने कहा, "अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन, आखिर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या-क्या मालूम है, यह तो मालूम हो।"

श्रीमतीजी ने अकृत्रिम आश्चर्य से कहा, "बिरजू के पास खत आया है, सो तुमने कुछ नहीं सुना? आजकल की लड़कियाँ, बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो—"

क्या मामला, कहाँ, कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य

बाहर हो पड़ा सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता ? मैंने कहा, "कुछ बात साफ़ भी कहो।"

उन्होंने कहा, "वह लड़की आशनाई में फँसी थी।—पढ़ी-लिखी सब एक जात की होती हैं।"

मैंने कहा, "सबकी जात-बिरादरी एक हो जाय तो बखेड़ा टले। लेकिन असल बात भी तो बताओ।"

"असल बात जाननी है तो जाकर पूछो उसकी महतारी से। भली समधिन बनने चली थी। वह तो मुझे पहले ही से दाल में काला मालूम होता था। पर देखो न, कैसी सीधी-भोली बातें करती थी। वह तो, देर क्या थी, सब हो ही चुका था। बस लगन-महूर्त की बात थी। राम-राम, भीतर पेट में कैसी कालिख रक्खे है, मुझे पता न था। चलो, आखिर परमात्मा ने इज्जत बचा ली। वह लड़की घर में आ जाती तो मेरा मुँह अब दिखाने लायक रहता ?"

मेरी पत्नी का मुख क्यों किस भाँति दिखाने लायक न रहता, उसमें क्या विकृति आ रहती, सो उनकी बातों से समझ न आया। उनकी बातों में रस कई भाँति का मिला, तथ्य न मिला। कुछ देर के बाद उन बातों से मैंने तथ्य पाने का यत्न ही छोड़ दिया और चुपचाप पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का विवेचन सुनता रहा। पता लगने पर मालूम हुआ कि ब्रजमोहन के पास खुद लड़की यानी जाह्नवी का पत्र आया था। पत्र मैंने स्वयं देखा। उस पत्र को देखकर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो?—मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मन में उठी है और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है और मैं शून्य-

भाव से, हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुए है उसकी ओर, देखता रह गया हूँ।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे-सादे ढंग से उसमें यह लिखा था कि 'आप जब विवाह के लिए यहाँ पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पायँगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझ में नहीं है। एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिलनी चाहिए।—वह जीवन-संगिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर आप चाहें, आपके माता-पिता चाहें, तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूँ। विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को दे ही दूँगी, आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी। आपकी कृपा मानूँगी। कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे, तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आपके हाथ है। जो चाहें, करें।'

मुझे व्रजनन्दन पर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ता के साथ कह दिया कि मैं यह शादी नहीं करूँगा। लेकिन उसने मुझ से अकेले में यह भी कहा कि चाचाजी, मैं और विवाह करूँगा ही नहीं, करूँगा तो उसी से करूँगा। उस पत्र को वह अपने से अलहदा नहीं करता है। और मैं देखता हूँ कि उस व्रजनन्दन का ठाठ-बाट आप ही कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति सगर्व बिल्कुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यक से अधिक बात नहीं करता। एक बार प्रदर्शिनी में मिल गया। मैं तो देखकर हैरत में रह गया। व्रजनन्दन एकाएक

पहिचाना भी न जाता था। मैंने कहा, "व्रजनन्दन, कहो क्या हाल है ?"

उसने प्रणाम करके कहा, "अच्छा है।"

वह मेरे घर पर भी आया।

पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया और बहुत-बहुत बधाइयाँ दीं कि ऐसी लड़की से शादी होने से चलो भगवान् ने समय पर रक्षा कर दी। जाह्नवी नाम की लड़की की एक-एक छिपी बात बिरजू की चाची को मालूम हो गई है। वह बातें—ओः! कुछ न पूछो, बिरजू भैया! मुँह से भगवान् किसी की बुराई न करावे। लेकिन,—

फिर कहा, "भई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलावें, तू ही बता। क्यों रे, अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा? सुनता है कि नहीं ?"

व्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा, "और ये तुझे हो क्या गया है? अपने चाचा की बात तुझे भी लग गई हैं क्या? न ढंग के कपड़े, न रीत की बातें। उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोभते नहीं हैं। तू क्यों ऐसा रहने लगा है रे ?"

व्रजनन्दन ने कहा, "कुछ नहीं, चाची। और कपड़े घर रक्खे हैं।"

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा, "व्रजनन्दन, बात तो सही है। अब शादी करके काम में लगना चाहिए और घर बसाना चाहिए। है कि नहीं ?"

व्रजनन्दन ने मुझे देखते हुए बड़े बूढ़े की तरह कहा, "अभी तो बहुत उमर पड़ी है, चाचाजी।"

मैंने इस बात को ज्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पार इतवार को, सोमवार को, मंगलवार को और आज बुधवार को भी सबेरे-ही-सबेरे छत पर नित रोटी के मिस कौओं को पुकार-पुकार कर बुलाने-खिलाने वाली यह जो लड़की देख रहा हूँ सो क्या जाह्नवी है? जाह्नवी को मैंने एक ही बार देखा है, इसलिए, मन को कुछ निश्चय नहीं होता। कद भी इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवी में अधिक था। पर यह वह नहीं है, "जाह्नवी नहीं है, ऐसी दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सबेरे-ही-सबेरे इतने कौए बुला लेती है कि खुद दीखती ही नहीं, काले-काले वे-ही-वे दीखते हैं। और वे भी उसके चारों ओर ऐसी छीन-झपट-सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानो बड़े स्वाद से, बड़े प्रेम से, चोंथ-चोंथ कर उसे खाने के लिए आपस में बदाबदी मचा रहे हैं। पर उनसे घिरी वह कहती है "आओ कौओ, आओ।" जब वे आ जाते हैं तो गाती है—

"कागा चुन-चुन खाइयो!"

और जब जाने कहाँ-कहाँ के कौए इकट्ठे के इकट्ठे काँऊँ-काँऊँ करते हुए चुन-चुनकर खाने लगते हैं और फिर भी खाँऊँ-खाऊँ करके उससे भी ज्यादा माँगने लगते हैं तब वह चीख मचा कर चिल्लाती है, "कि ओरे कागा, नहीं, ये—"

"दो नैना मत खाइयो!
मत खाइयो—
पीउ मिलन की आस!"

दृष्टि-दोष

बचपन में जो कुछ हो जाता है, वह याद रहता भी है, नहीं भी रहता है। उसमें से 'कुछ उस' को तो भुला देना चाहते हैं और 'कुछ इस' को अपने निकट सदा ताज़ा रखे रखना चाहते हैं। किन्तु, बढ़ते चलने में क्या छूटता जायगा और क्या अपने भीतर संग्रहीत हुआ रहेगा, सो किसी नियम से शोधा नहीं जा सकता।

मेरी अवस्था पैंतालीस वर्ष की होगी। विवाह भी कर लिया है और अपनी डाक्टरी में मजबूती से सँभला बैठा हूँ। इस डाक्टरी की अच्छी आय और ऊँची प्रतिष्ठा की कुर्सी पर से अब जब बचपन को देखता हूँ तो वह अच्छा ही लगता है। अब यह स्वीकार करते हमें आनन्द ही होता है कि हम छोटे थे तब बड़े मूरख थे। क्योंकि, उससे बिल्कुल पार हो जाकर, हम अब उस पर असंलग्न निगाह डाल सकते हैं।

किशोरावस्था को भी बचपन ही कहिए। अन्तर इतना ही है कि इस अवस्था में बच्चे की बेवकूफी यहाँ तक बढ़ जाती है कि उसे हिम्मत होती है कि वह अपने को बड़ा समझे, बच्चा न समझे।

उसी किशोरावस्था में एक बात घटी ।—अब तो उसे 'बात' ही कहना चाहिए; किन्तु, जब वह हो रही थी तब कोरी 'बात' ही नहीं थी । क्या थी, यह पाना एकदम अशक्य है । पर सारी ज़िन्दगी को एक मोड़ पर वह डाल गई और वहाँ सदा के लिए जैसे एक गाँठ बैठ गई ।

घर मेरा ग्वालियर था, पढ़ता कानपुर था । कानपुर में एक रिश्तेदार के यहाँ रहता था । अब 'बात' यह थी कि एक सम्भ्रान्त पड़ौसी के घर में सुभद्रा नाम की एक लड़की रहती थी । नववीं क्लास में थी या दसवीं में, ठीक याद नहीं । सम्भवतः हम एक दूसरे को जानने लगे । परस्पर परिचय पाया, मिले । परिणाम हुआ कि एक रोज मेरे मन में होने लगा कि मैं या तो उसे पा लूँ या मर जाऊँ । किन्तु इन दोनों में से कोई बात होने में नहीं आई । हुआ यह कि मैंने सुना, लड़की के पिता उसकी सगाई के लिए अन्यत्र कहीं ठीक-ठाक कर रहे हैं । सुनकर जग फीका लगने लगा । उस समय मन में आया कि चलो जी, मर-मराकर पाप काटो । यह भी सोचा कि मैं तो मरूँ ही, चलो, सुभद्रा को भी तमंचे की एक चोट से छुटकारा दे दूँ । फिर कहाँ रहेगा जगत् और कहाँ रहेगी हमारे मन की विथा ।

यह विचार मैंने पत्र से सूचित किया कि कहो सुभद्रा, क्या राय है ?

सुभद्रा के पास से कोई राय मेरे पास नहीं आई । न कोई मेरे लिए सम्बोधन ही आया, न उद्बोधन । न प्रेम की शपथें आईं, न क्षमा की प्रार्थना । मृत्यु के विषय में निर्भीक संकल्प भी नहीं आया, जिसकी मुझे पक्की आशा थी ।—असल में कोई जवाब ही नहीं आया ।

तब मेरी आँखें खुल-खुल कर पड़ीं। मैंने कहा कि 'ओ सुभद्रा, तू ऐसी !...पर क्यों न ? आखिर तो तिरिया-चरित है !' और इच्छा की कि एक लम्बी-सी तलवार क्यों न हुई जो दोनों के सीने में से निकलकर दोनों को आपस में पिरोदे और मंजिल तय हो जाय। फिर भी हठात् मैं सम्भला और पत्र पर फिर पत्र लिखे। पर जवाब किसी का भी न पाया।

अब जब उस किस्से से मैं बिल्कुल पाक हूँ, बहुत दूर हूँ, तब झूठ बोलने का मुझे कोई लालच नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि हम दोनों के बीच में यदि कुछ रसीला उठा और भरकर फोड़े-सा पकता ही आया तो उसमें सुभद्रा निरी निर्दोष न थी। मैं कितना ही उस समय अपने पौरुष पर मुग्ध क्यों न होऊँ; भाग्य पर विस्मित और मन के भीतर अपराधी; लेकिन अब आकर तो इस बात से आँख मींच ही नहीं पाता कि मैं तो पतंग जितना भी स्वाधीन न था। और यद्यपि वह सुभद्रा आकांक्षाहीन स्थिर दीप-शिखा की भाँति अपने-आप में मग्न और प्रज्वलित दीखा की, फिर भी मानो आमन्त्रणीय और निश्शब्द आकांक्षा का जो जाल, उसके बावजूद, उसमें से फूटकर, आखेट की चाह में बाहर फैल छाया था, सुध-बुध भूलकर मैं उसी में खिंचा चला जाता था।

खैर, जो हो। जब मैंने जवाब नहीं पाया और हाथ में न कोई तलवार न तमंचा पाया, तो मैंने अपने घर ग्वालियर पहुँच कर निश्चय किया कि मैं कानपुर छोड़ दूँगा, अब से लखनऊ में पढ़ूँगा।

मैं लखनऊ में जाकर पढ़ने लगा। खूब जी को तोड़-मोड़ कर मैंने उसे अध्ययन में झोंक दिया। मैंने तय कर लिया कि सुभद्रा चाहे जहाँ हो, वह मुझे नहीं पानी है। अब तो सफलता और

नामवरी ही मुझे पानी है। मैं पढ़ता गया और पढ़ता गया।—बी० एस-सी० किया, फिर मेडिकल कालिज में गया। व्याह का नाम पास तक न फटकने दिया। एम० बी० बी० एस० के बाद दो साल आँख में स्पेशलिस्ट बनने में निकाले। इस भाँति राह को दीर्घ से दीर्घ बना कर भी जब मैं उसके पार आ लगा, तब, तीस साल का होकर, अपनी आँखों की डाक्टरी में जमने बैठ गया।

तीस से आरम्भ करके आज पैंतालीस वर्ष के होने के इस काल ने मुझे ठोक-ठाक कर पक्का आदमी बनाया है।

इस बीच बार-बार मुझ से कहा गया, "व्याह।"

हर बार मैंने कह दिया, "नहीं।"

फिर जिद हुई, "अरे, क्यों नहीं?"

मैंने शान्त होकर यही कहा, "नहीं। इसीलिए और नहीं।"

माँ-बाप हार गये। और भी कहने वाले हार गये। और मैं बस डाक्टरी में गहरे से गहरा गड़ने में लगा रहा। डाक्टरी चमकने लगी। वह बढ़ने और जमने लगी। लेकिन माँ-बाप शिथिल पड़ने लगे! उन्होंने अपने जीवन में देखा कि मैं कामयाब डाक्टर बन गया हूँ। वे प्रसन्न थे किन्तु, किन्तु इस को वे जीते-जी तरसा ही किये कि मैं विवाह करके घर-बार लेकर बैठूँ और उनके वंश की बेल आगे बढ़ाऊँ। अपने वंश में और वंशजों में व्यक्ति अमर होकर जिये, इससे गहरी प्राणों में और क्या चाह है?

किन्तु जिक्र हुआ, "व्याह!"

मैंने कहा, "उँह!"

फिर जिरह हुई, "अरे क्यों?"

मैंने पिंड छुड़ाया, कहा, "छोड़ो, छोड़ो।"

सो उमर आती गई। माँ-बाप छीजते गये। और एक दिन

वे मर गये।

तब मैं डाक्टरी को पकड़ कर उसके साथ और भी जोर से आलिंगन में चिपट गया। जैसे मैंने मन में कहा, "अरी ओ तू सत्यानाशिनी डायन डाक्टरी, अब तू मुझ से कहाँ जायगी ? तू भी देख कि मैं तुझे फुला-फुलाकर कितनी मोटी कर देता हूँ। पर मोटापा ही तेरे भाग्य में है, अरी बन्ध्या !..."

इस भाँति मैं चालीस वर्ष के लगभग हो आया। स्थूल भी होता आया। पैसे के सिर पर पैसा आकर चिपट कर बैठता गया और डाक्टरी फूल कर फूलती गई। लेकिन मैं अब कभी-कभी अपने को निष्फल-सा भी अनुभव करता। मन गिरा-गिरा सा रहता और लगता कि मैं जैसे झड़ चुका हूँ। मैं अकेला हूँ और दुनिया धन जोड़ने के लिए है, मानो इस बात पर मन अब चिपकाए न चिपकता, वहाँ से वह खिसक आना ही चाहता। ऐसे समय अपने बारे में और सतर्क होकर मैं अपने को सँभाल लेता। खूब चुस्त और कर्त्तव्य में अत्यन्त लीन होकर कर्म में चिपटा ही रहता, व्यस्त ही रहता। सोता बहुत कम। पढ़ता था, प्रयोग करता था, परीक्षण करता था, उसके बाद रोग-निदान और दवा-दान करता था। नौकर बहुत थे और वे सब मुझ से हुशियार रहते थे। अपनी भाँति मैं उन्हें भी मशीन की नाईं अथक और चुस्त न देखूँ, यह मुझे असह्य था। मैं उन पर रह-रह कर झल्लाता और झींकता था। वक्त का मेरे लिए बहुत मूल्य था, क्योंकि उसको अपना सामना करते मैं न देखना चाहता था। मैं अत्यन्त उद्यमी डाक्टर था। किन्तु—

किन्तु इस सब से मैं तंग भी था।

इस भाँति बयालीस वर्ष का होते-होते मैंने सोचा, मैं विवाह

करूँगा और एक मादा से विवाह मैंने कर लिया।

मादा कहने से यह मतलब नहीं कि मैंने स्त्री से विवाह नहीं किया। नहीं, वह स्त्री, किसी की पुत्री भी थी, किसी की बहन भी थी। उसका नाम भी था, आकार भी था और उसमें व्यक्तित्व भी तो था ही। किन्तु मैंने विवाह तो नाम, रूप अथवा स्त्री के स्त्रीत्व और व्यक्तित्व आदि से नहीं किया। वह तो मैंने मादा थी, इससे किया। मादा होने के कारण-भर से मैंने स्त्री को विवाहा।

घर में चार नौकर हैं, इतनी कुर्सी, इतने पलंग, इतने तौलिए हैं, तो ज़रूरत के लिए मादा भी क्यों नहीं हो सकती ? विवाह की कीमत देकर इसलिए उस ज़रूरत की चीज़ को भी मैंने अपने तईं सुलभ बना लिया।

अब मैं लगभग पैंतालीस वर्ष का हूँ। ऐसी पकी अवस्था में अपनी स्थूलांगिनी और कांचनदेहा डाक्टरी के स्वामित्व-काल के बीच में ही, वर्षा से भीगे हुए एक दिन, जो घटना हो गई क्या उसको आप समझेंगे ?

: २ :

सबेरे से बारिश हो रही थी। सर्दी खूब थी। आज मैं कुछ बेकाम-सा था। रोगी कम आये थे। बादल खुलने में न आते थे। रिमझिम-रिमझिम पड़ती हुई बूँदों से मेरा भी जी जैसे कुछ विवश हो आ रहा हो ! मानो बूँदें मेरे भीतर चलीं आकर अन्तर को भिगो रही हों। मैं इस तरह की बेमतलब अवस्थाओं को नापसन्द करता हूँ, जब हम पाते हैं कि अपने ही में हम घुले जा रहे हैं, घुले जा रहे हैं !—छिः ! यह क्या आदमियत है ? इसलिए उन नीरव और गीली घड़ियों को चुनौती देता हुआ-सा मैं पुरुषार्थपूर्वक कुर्सी से खड़ा होकर अपने ही कमरे में टहलने लगा। तभी थोड़ी देर में

मुन्शी ने आकर एक पर्चा मुझे दिया जिस पर लिखा था 'On Business,' नीचे हस्ताक्षर स्पष्ट न थे। मैंने पूछा, "कौन है ?"

मुन्शी के बताने से मालूम हुआ, एक भद्र महिला हैं।

महिला !...मैं दृढ़ कदमों से टहल रहा हूँ, तब भद्र महिला !...

मैंने किंचित् पुरुष भाव से कहा, "वह क्या चाहती हैं ?"

मुन्शी ने संकेत से बताया कि जहाँ तक वह समझता है, जो पर्चे में लिखा है, वही वह महिला चाहती होंगी।

मैंने अपनी कुर्सी की ओर बढ़ते हुए कहा, "अच्छा, उन्हें आने दो।"

महिला आईं। मैं कुर्सी पर बैठा रहा, अभिवादन में झूठे को तनिक ही उठा हूँगा कि बैठ गया।

महिला ने कुर्सी खींची, हाथों से ग्लव्स खींच कर तह करके मेज पर रख दिये और खड़े ही खड़े हठात् मुस्कराते हुए कहा, "डाक्टर साहब, आप मुझे अपनी मरीज़ा बनने दीजिएगा ?"

यह कहते-कहते वह कुर्सी पर बैठ गईं।

मेरे भीतर कुछ वस्तु ज़ोर से उठने और बैठने लगी। मुझे अपने को यह मानना मुश्किल होता जाता था कि मैं डाक्टर हूँ और यह मरीज़ा है, कि मैं अपरिचित हूँ और यह भी अपरिचिता है।

मानो अपने बावजूद मैंने कहा, "आपका नाम—"

महिला ने बीच ही में बात को लेकर कहा, "जी हाँ, मेरा नाम सुभद्रा है, और मैं खूब सानन्द हूँ।

मानो अब मैं अपने भीतर शान्त होने लगा और आदतवश अनायास डाक्टर हो चला। मैंने साधारण भाव से कहा, "ओह !"

सुभद्रा ने कहा, "जी हाँ, डाक्टर साहब, मैं बिल्कुल खुश हूँ। लेकिन लोग कहते हैं कि मुझे दृष्टि-दोष है। ज़रा ज़ोर पड़ने पर

आँख में पानी उतर आता है। आप आँख के विशेषज्ञ हैं। आज जब काम से देहली आना हो गया है तब मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि क्या मुझे आप अपनी मरीज़ा बनने देंगे ?"

मैंने कहा, "अच्छा।"

इस 'अच्छा' में मानो मैंने अच्छी तरह कह दिया कि मैं डाक्टर ही हूँ।

मैं उठकर एक तरफ को बढ़ा, कहा, "आप ज़रा इधर आइएगा ?"

उनकी आँख को साधारण रीति से देखा, यथानियुक्त दूरी पर रखे बड़े-छोटे अक्षरों को पढ़वाया और मुस्कराकर कहा, "दृष्टि में तो दोष नहीं मालूम होता।"

उन्होंने कहा, "आँख में पानी बहुत जल्द आ जाता है।"

मैंने कहा, "तो थोड़ी तकलीफ और कीजिए।"

और डार्क रूम में ले गया। वहाँ अँधेरा ही अँधेरा था। मैंने चट से बिजली खोली और आँख के सम्बन्ध में उनका इतिवृत्त जानना आरम्भ किया। वह मुस्कराती जाती थीं। मुझे ध्यान रखना ड़ रहा था कि मैं डाक्टर हूँ। मैंने आवश्यक प्रयोग और परीक्षण कर कहा, "चलिए, अब दफ़्तर में चलें।"

वह कुर्सी पर बैठी थीं। मैं बराबर में खड़ा था। एक दूधिया त्ती जल रही थी जो इस कमरे की रात को दिन बनाने की भीख ाँगती लगती थी। कुर्सी पर बैठे-बैठे उन्होंने कहा, "कुछ दवा हीं दीजिएगा ?"

मैंने कहा, "दवा आपको जरूर चाहिए तो जरूर दूँगा !"

"जी हाँ, क्यों जरूर नहीं चाहिए ?"

मैंने एक शीशी में कुछ बनाकर तैयार कर दिया। और कहने

वाला ही था "चलिए" कि उन्होंने पूछा, "डाक्टर साहब, मेरी निगाह ठीक हो जायगी ?"

मैंने कहा, "निगाह तो ठीक ही है।"

सुनकर वह चुप हो गईं। मैं भी चुप रहा। सब चुप था।—जैसे समय भी चुप ठहर गया हो। बाहर बूँदें टपटप टपकती थीं। वह टपटप अस्पष्ट कमरे में आ रही थी। मानो जीवन का वे ही वहाँ लक्षण थीं, या कि हम दोनों के विश्वास। तीन मिनट, चार मिनट हो गए। वे तीन-चार मिनट बेहद भारी होते गये। हाथ कुछ न आता था जो उन घड़ियों को टाल दे, और अटल होकर वे एक-एक पल मन-मन भर भारी होते जाते थे। मानो अब मिथ्याचार टिकाये न टिकेगा। "मैं डाक्टर हूँ," इसको कुचलकर यह प्रतीति मानो ऊपर आ ही रहेगी कि "मैं पुरुष हूँ" और यह भी कि जो कुर्सी में है वह मरीजा तो चाहे हो, और चाहे न भी हो, पर वह सुभद्रा है।

महत् से भी भारी ये दो आत्माओं के बीच के सन्नाटे की घड़ियाँ असह्य होती चली गईं। चौथा मिनट होते-होते आखिर मानो मोह तोड़, अपने साथ एकदम झटपट मचाकर मैंने कहा, "चलिए, दवा बन गई है।"

उन्होंने भी जैसे खोई सुध पाई। उन्होंने कहा, "आप मरीज के इतमीनान का इतना ही ख्याल रखते हैं, डाक्टर साहब ? ठहरिए, बतलाइए, मेरी आँख ठीक हो जायगी ? मैं अब चालीस की होने आती हूँ।"

मैंने धीमे से कहा, "हाँ, जरूर हो जायगी।" फिर हम लोग उठकर बाहर दफ्तर में आ गये। महिला ने वहाँ धीमे-धीमे, मानो विचारपूर्वक, हाथों में दस्ताने पहनने शुरू किये। उसी समय उन्होंने

कहा, "आपकी कृपा के लिए, डाक्टर साहब, मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।" यह कहकर मेरी फीस के बीस रुपये निकालकर मेरे सामने मेज पर रख दिये।

वे दोनों नोट, नये, रङ्गीन, क्रिस्प, मेरी निगाह के आगे बिछे-के-बिछे ही रह गये। मालूम हुआ कि इन कागजों का बोझ मेरे हृदय से सम्भाला न जायगा। जी में हुआ-सा कि इन कागजों को और अपनी डाक्टरी के आवरण को फाड़-फेंककर बाहें फैलाकर खड़ा हो जाऊँ और कहूँ, "ओ सुभद्रा!" लेकिन वह कुछ भी न हुआ। मेरा हाथ यन्त्र के समान धीरे-धीरे बढ़ा, नोटों तक पहुँचा और नोटों को अपनी पकड़ में मरोड़कर उन्हें चुपचाप मेरे जेब में डाल गया। सुभद्रा देखती रही और जब नोट चुप जेब में बन्द हो गये तब मानो उसके मुख का सुख बढ़ा। उसने कहा, "डाक्टर साहब, मैं बाल-बच्चेदार स्त्री हूँ। क्या आप इजाजत देंगे कि आपके बाल-बच्चों से मिल लूँ? मेरे बच्चे सब दूर हैं। मैं यहाँ अकेली हूँ।"

मैंने कहा, "आप कह क्या रही हैं?"

"मैं यहाँ बिलकुल अकेली हूँ डाक्टर साहब, और हाल ही मेरा पाँच वर्ष का एक बच्चा मर गया है। वह किताब में से ए-बी-सी-डी सुनाया करता था और खाते वक्त रोटी के ये हरूफ बनाया करता था। यहीं के अस्पताल में वह मरा है। उसके बाप को छुट्टी नहीं मिल सकी और वह नहीं आ सके। और बच्चे बाप के पास हैं। उनके देखने को मेरा बहुत जी है। पर वह कहाँ हैं, मैं कहाँ हूँ?...आपके कितने बच्चे हैं डाक्टर साहब?"

मैं विमूढ़ होता गया। कुछ कहने के लिए मैंने कहा, "आप क्या कह रही हैं?"

उन्होंने कहा, "डाक्टर साहब, आप मुझे......आपके कितने बच्चे हैं ?"

यह सब-कुछ मेरे लिए बहुत होता जा रहा था। मैंने एकदम कहा, "मेरे कोई बच्चा नहीं है, सुभद्रा।"

मैं बह पड़ने को हो गया। पर मानो वह चलने से हठात् इन्कार करते हुए उसने पूछा, "शादी नहीं की ?"

"की है।"

तब मानो मैंने उसके मुँह का सम्बोधन सुना, "केदार ! क्या यह मेरी कल्पना थी ? और मेरे कण्ठ तक आया—सुभद्रा !"

हम अपनी-अपनी जगह रहे और मानो एक-दूसरे को निगाहों से निगल जाना चाहने लगे।

किन्तु वह सुभद्रा थी। उसने कहा, "आप दुखी हैं ?"

"नहीं, दुखी नहीं हूँ," मैं कह चला, "दुख जानने लायक मैं नहीं हूँ।" उस समय सुभद्रा जो हो पड़ी, मैं उसे न समझ सका। उसने कहा, "केदार, किन्तु मुझे तो देखो। मैं सुख से किसी तरह भी बचकर दुखी हो सकती हूँ ? हमारा गृहस्थ-जीवन स्वर्ग है। मैं बच्चों को प्यार करती हूँ, बच्चे मेरे हैं। पति मुझे प्रेम करते हैं और वह मेरे पति हैं। छिः, फिर भी तुम दुखी होते हो। सुभद्रा कितने सुख में है, यह नहीं देखते ?"

कहते-कहते सुभद्रा की वाणी मानो मर्मवेधिनी होती गई। वह मानो चीख-चीखकर यह सुना रही थी।

तब मुझे मालूम होने लगा कि स्त्री क्या है ? कि वह मादा नहीं है, वह तो स्त्री ही है। मैंने मानो उसको सम्बोधन देते हुए कहा, "सुभद्रा !"

उसने कहा, "नहीं, केदार, तुम मेरे सुख को कम नहीं कर

सकते। यह देखो ग्लव्स,—बाइस रुपये के मुझे स्वामी ने लेकर दिये थे। मेरी मोटर बाहर खड़ी है। बहुत-सी चीज़ों की और अपनी मालिक मैं हूँ।...केदार, तुमने शादी कब की? चार वर्ष पहिले तक तो तुम ऐसे ही थे।"

मैंने कहा, "सुभद्रा!"

"नहीं केदार, तुम मेरा सुख स्पर्श नहीं कर सकते। तुम कोई नहीं हो कि मुझ सुखी को लेकर तुम दुखी बनो, जिससे कि मेरा ही सुख मुझे काटे। नहीं, तुम मेरे आनन्द को नहीं छू सकोगे। मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

"सुभद्रा!"

"केदार, तुम्हारे पत्र मुझे नहीं मिले, यही तुम समझो। बताओ, उनमें मूर्खता के सिवा कुछ था? और प्रेम मूर्खता है। प्रेम में किसी ने सुख पाया है? इसलिए मैंने उसी क्षण उन पात्रों को समाप्त किया और उसके बाद सुख के राह की सब अड़चन मिटा दी। विवाह हुआ, कुटुम्ब हुआ...नहीं केदार, तुम ईर्ष्या नहीं कर सकोगे।"

मैंने फिर कहा, "सुभद्रा", ताकि वह रुके और शान्त हो। लेकिन उसने कहा, "केदार, तुमने कब ब्याह किया? त्योरस साल ही तो? मैं सब जानती रही। लेकिन तेतालिस वर्ष तक तुम कुँवारे रहे?...मैं कहती हूँ कि सुभद्रा पर इसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है, कोई फिक्र नहीं है...केदार, केदार!...क्या तुम आशा किये ही जाते हो? किये ही जाओगे? लेकिन आशा ठगिनी है। आशा झूठ है, जैसे कि तलाक झूठ है। तेतालिसवें वर्ष ब्याह करके भी तुम सुभद्रा को याद रखने की हिम्मत रखते हो? लेकिन तुम्हारी हिम्मत झूठ है, क्योंकि सुभद्रा सुखी..."

"सुभद्रा !"

"...नहीं, नहीं, मैं विधवा जल्दी होने वाली नहीं हूँ। मैं कभी विधवा नहीं हो सकती, क्योंकि मैं सती होऊँगी। सतीत्व भारत से मिटा नहीं है, यह मुझसे लोग देखेंगे। तुम आशा करके अपने को ठगो मत, केदार! क्योंकि मैं विधवा एक क्षण को भी नहीं हूँगी और तुम्हारा मुँह भी नहीं देखूँगी। दृष्टि-दोष न होता तो क्या तुम समझते हो मैं याद भी करती कि केदार नाम का कोई डाक्टर है या केदार कोई आदमी भी है? आँख की वजह से ही मैं तुम्हारे पास आई हूँ, यह खूब समझ लो।"

मैंने जेब से नोट निकाले। धीमे-धीमे हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ा और उस हाथ की मुट्ठी बाँध उन नोटों को भींज देकर उसकी कलाई को थामे हुए ही कहा, "सुभद्रा!"

कुछ देर वह जैसे अवसन्न हो रही। फिर एक साथ झटके से अपना हाथ खींचकर बोली, "आप मुझे यह बताना चाहते हैं कि मैं मरीज़ा नहीं हूँ और आपके पास इसीलिए नहीं आई हूँ कि आप डाक्टर हैं? अजी, मुझे दृष्टि-दोष न होता और आप आँख के डाक्टर न होते तो मेरा आप से क्या वास्ता था? यह रुपये वापिस करके आप अपने को धोखा देना चाहते हैं कि मेरा आप से वास्ता है?"

यह कहकर दोनों नोट मेज पर ही छोड़ दिये। वे कागज़ गुड़ी-मुड़ी हुए मेज पर पड़े रहे।

मैंने कहा, "सुभद्रा!"

सुभद्रा खड़ी हो गई। उसने कहा, "अच्छा डाक्टर साहब, मेरी आँखों को आराम हो जायगा न? आपने आठ रोज़ की दवा दी

है। उसके बाद खत भेजकर या आदमी भेजकर भी आपके यहाँ से दवाई मँगाई जा सकती है न ? मेरा आना मुश्किल होगा।"

मैं भी खड़ा था। मैंने कहा, "प्यारी सुभ—"

लेकिन सुभद्रा दरवाजे से बाहर चली गई थी।...

* * * *

इसको बीते ज्यादे दिन नहीं हुए हैं और मैं नहीं जानता कि इस घटना को मैं किस प्रकार तह करूँ और अपने सामान में उसे कहाँ रखूँ।

विस्मृति

दूसरे विवाह की जो बहू आई है उनके सिर में दर्द अधिक रहता है। और पहली स्त्री का जो लड़का है विपिन, वह पाँच वर्ष का हो गया है फिर भी बदशऊर बना हुआ है। उसमें अकल तो खाक भी नहीं है। अपनी नई माँ का कहना नहीं मानता, इतने पर ही बस नहीं है, वह उनके सामने बेअदबी तक कर बैठता है और जबाब देने लगता है। ऐसे अवसरों पर अवश्य इन नई माँ ने उसे कभी कुछ दुरुस्त भी कर दिया है। पर किस माँ की कोख से यह कुलच्छनी उपजा है विपिन, कभी कुछ नहीं सीखेगा, ऐसा ही कुटेवी बना रहेगा !

इसलिए घर के चौका-बासन और चीज की सम्भाल और बच्चे विपिन की फिकर विपिन की दादी के ऊपर ही आ गई है। उनकी अवस्था पचास से दो-एक साल ऊपर होगी। देह भी अक्षम नहीं है। तन्दुरुस्ती भी खासी है।

सबेरे तड़के उठ जाती हैं और सन्ध्या तक करने को उन्हें काम ही काम रहते हैं। हारी-थकी रात को सोती हैं। पर नींद उन्हें बड़े आराम की और बड़ी गहरी आती है।

काम का यह चक्र आरम्भ में ही इतने बँधे रूप से नहीं चल पड़ा था। तब उनके मन में आशाएँ थीं, आकांक्षाएँ थीं। वे ही असन्तोष पैदा करती थीं और काम में बाधा डालती थीं। पर, फिर तो वह सब-कुछ को तिलांजलि दे बैठीं और काम में लग गईं। काम-काम-काम, बच्चे को न्हिला-खिला कर चुकीं कि चूल्हे का समय आ गया, फिर बासन-चौका, उसके बाद कुछ कपड़े-लत्तों का सीना-उधेड़ना ही ले बैठीं, नहीं तो चर्खा। और यों बहू की दवा-दारू और टहल भी उन्हें काफी समय का काम दे देती थी।

पहले सोचती थीं, अब तो बहू आ गई है। बड़भागन हो, पूतों फले अब तो मैं पीढ़े पर बैठकर कहूँगी, 'बहू पान तो लगाकर एक लाना', और दुपहर तीसरे पहर कभी कहूँगी, बहू, आज तो मेरे सिर की चोटी ठीक कर दे।' और नहीं तो मैं ही उसका सिर गोद में ले बैठा करूँगी और उसके बालों को काढ़ कर ठीक करके भानू के कमरे में भेज दिया करूँगी। और विपिन को भी एक माँ मिलेगी, जिसके साथ वह खेला करेगा—

पर बहू के सिर में तो दर्द बहुत रहता है और वह चौका वगैरह कुछ भी काम नहीं कर पाती है। और विपिन बेहूदा ऊधमी लड़का है।—सो, उसके मन की बात पूरी नहीं हुई। मन में जो था उसे मनके ही भीतर कहीं खूब अच्छी तरह गाड़ कर उसे बैठना पड़ा।

पर यह सहज न था। पहले तो अड़चनें पड़ीं। बहू-सास में कहा-सुनी होती, और फिर बहू एक में और सास दूसरे कमरे में जाकर पड़ रहतीं। इस तरह रोटी कभी बनती कभी नहीं बनती।

लाला भानामल अपनी दुकान से आकर देखते। बहू के पास जाकर कहते, "क्या बात है?"

बहू मुँह फेर लेतीं।

भानामल प्रेम से उसका हाथ पकड़-कर पूछते, "शशि, बात क्या है?"

और शशिकला कहती, "क्या बात है! जाकर पूछो न अपनी माँ से, क्या बात है! और तुम सब लोग मुझे मारना चाहते हो तो एक दम से क्यों नहीं मार डालते जो टंटा मिटे!"

लाला भानामल घबड़ा कर पूछते, "ऐसी क्या बात हुई, बताओ भी तो?"

शशिकला कहतीं, "बात हुई कि मैंने कहा 'अम्मा जी, मेरा सिर बड़ा दुखता है, नेक आज तुम रोटी बना लोगी?' सो इसी बात पर जाने क्या-क्या बात उन्होंने मुझे नहीं सुनाई। मैं पूछती हूँ कि जब मैं मरने लगूँगी तब भी तुम लोग यही तो समझोगे न कि बहाना है?"

बहू से निबट कर भानामल माँ के पास जाकर कहते, "माँ क्या बात है?"

माँ कहतीं, "कुछ बात नहीं है; बेटा।"

भानामल कहते, "माँ, उसने कहा था तो तुम एक दिन रोटी नहीं बना सकती थीं?"

माँ कहतीं, "बना सकती थी बेटा; और बना दिया करूँगी। रोटी तो मैं बनाती ही थी। सोचती थी, बहू आ गई है। चलो, दो रोज़ को मुझे भी बिसराम मिल जायगा। पर, न सही बिसराम, मैं ही रोटी बना दिया करूँगी। मेरा इसमें जाता क्या है। और, काम से तो आदमी अच्छा ही रहता है।"

भानामल, "अम्मा, उसके सिर में दर्द रहता है। और वह कोई

झूठ तो कहती नहीं। और रोग ऐसी चीज़ है कि न जाने कब बढ़ जाय।"

माँ, "हाँ बेटा, ठीक तो है। चलो, मैं चौके में चलती हूँ। अभी बनाये देती हूँ रोटी।"

आरम्भ में ऐसी कहा-सुनी जिस-किसी बात पर हो जाती थी; पर, सदा ही, अन्त में माँ को अपना मन मार लेना होता था। वह हार जातीं और झुक जातीं। सोचतीं मेरे दिन, जो दिन थे, गये। तब गर्दन उठाती तो उठा कर रख भी सकती थी। अब अब तो मेरे दिन झुक कर चलने के आ गये हैं। यह सोच मन के भीतर बड़ी टीस पैदा कर देता। पर उसी को जी में बहुत नीचे गाड़ देकर और काम में लग जाकर वह मानो थोड़ा आराम भी अनुभव करतीं। धीरे-धीरे अपना मन मार-कर बैठने की उनकी बान ही हो गई। चोट खा-खा कर फन की तरह उठ खड़े होने की शक्ति ही मानो उनके मन की सो गई। मानो उनका मन ऐसा निर्विकार निःस्पंद हो गया है कि चोट उन्हें लगती ही नहीं। एक-डेढ़ साल के भीतर उस वृद्धा माता के मन ने ऐसी शक्ति उपजा ली (अथवा, ऐसी शक्ति खो दी) कि जिससे वह मान-अपमान, रोष-क्षोभ अथवा स्पर्द्धा आदि भावों का शिकार होने से मुक्त हो गया। ऐसा समय आने पर सास के कामों का क्रम और बहू के सिर-दर्द का सिलसिला यथावस्थित और अनुपराम गति से चलने लगा।

: २ :

परिवार के कई व्यक्तियों के बीच में रहकर भी मानो इस बड़े घर में वह अकेली रहती थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उसके यह पुत्र भानामल हुआ। अब उस भानामल की अवस्था पैंतीस के

लगभग है। पन्द्रह साल का था तब उसके पिता उठ गये। तभी से वह अपनी पंसारी की दुकान पर बैठता है।

पिता उसके सिर पर से उठ गये, तभी देखा गया कि भानामल मूर्ख नहीं है। वह बँधकर अपनी दुकान पर बैठता है और अपना ब्याह करके अपनी गृहस्थी जमा लेना चाहता है।

माँ ने बड़े उछाह से बेटे का ब्याह किया। और अब वही माँ बेटे के जीवन के लिए किसी भी भाँति अनिवार्य नहीं रह गई है। घर का सब काम-धाम सम्भालती है, ठीक है; उसकी माँ है, ठीक है; पर भानामल सबेरे-ही-सबेरे दूकान चला जाता है, और आता है तो चुपचाप जल्दी से खाना खाकर बहू के कमरे में चला जाता है। अपनी माँ से कहने-सुनने के लिए जैसे उसके पास न कोई बात है, न जरूरत ही है।

अपने धनी के निधन के बाद, और विशेष कर अपने भाना के विवाह के बाद, माँ अपने को सबके निकट पराया और सबके बीच अकेली अनुभव करने लगी है। ठीक जब उसके जी का प्यार, जी का समस्त अपनापन, केन्द्रहीन, लक्ष्यहीन हो जाने के कारण उमड़-उमड़ कर भर-भर आकर और मानो अपनी बाँह फैलाकर निमन्त्रण देता हुआ डोलने लगा, "ओ अरे, कोई है जो मेरा है? अरे, कौन है जो मेरा है?" तभी मानो उसे सब ओर से प्रत्युत्तर मिला, "बुढ़िया, हम मौज में हैं। तेरी आवश्यकता हमें नहीं है। तू जा।" तब वह ऊपर शून्य की ओर देख उठती, मानो पूछती, "अरे ओ मेरे प्राणनाथ, मुझे छोड़-कर तू उड़कर कहाँ चला गया है? निर्मोही, यहाँ मेरा कोई नहीं है, मेरे लिए अरे कुछ भी नहीं है।"

इस स्थिति में अधिक रहना उसके लिए असहनीय हो जाता।

भीतर की शून्यता उसके चारों ओर व्याप्त होकर मानो उसे निगल लेना चाहती। तब वह उठकर काम करने लगती। ऐसे समय अधिकतर भूखे मन से वह बहू के पास जाती, पूछती, "बहू जी कैसा है? मैं माथा दाब दूँ ?"

बहू एक शब्द में उत्तर देती, "नहीं।"

सास अपने खोखले उपद्रवी मन को बड़े अंकुश से दाबकर कहती, "बहू, मुझे तो अब और कुछ काम नहीं है। ला थोड़ा तेरा सिर दाब दूँ, कुछ चैन ही पड़ेगा।"

पर, बहू का मन तो हर समय ऐसा खट्टा अनमना-सा रहता है कि उसे कुछ नहीं भाता। हर समय सामने सूखी दीवार और आले में रखी हुई दवाई की शीशियों को देखते-देखते अपने को और हर किसी को कोसते रहने में ही उसका मन इतना लगा रहता है कि और किसी चीज में उसे स्वाद ही नहीं रह गया है। वह नहीं समझ सकी कि वह किस प्रकार अपनी सास की उद्यत सेवाओं और उसके स्नेह-सतृष्ण मन को अंगीकार करे। वह इतना ही कह सकी, "मुझे कुछ नहीं चाहिये" और करवट लेकर सामने देखती हुई चुप पड़ गई।

माँ को कुछ नहीं सूझा कि वह क्या करे। वह बेहद कातर हो उठी। वह उस समय रोने को हो गई। वह चाहने लगी कि उसे मालूम हो, उसने क्या दुष्कर्म किए हैं। क्यों उसका भाग्य उससे इतना रूठा है। उसने बहुत-बहुत चाहा कि वह इस छोटी-सी उमर की बहू को अपनी गोद में लेकर प्यार कर ले, पर, उससे इतना बन नहीं सका, और वह भी चुपचाप मुँह उठा कर लौटती चली आई।

लौटकर उसने क्या किया? या तो सोये हुए विपिन को जोर

से पकड़ कर छाती से लगा लिया और चूम लिया, विपिन रोने लगा और वह उसे मनाने में लग गई। या, नहीं तो बक्स उठा कर इसके कपड़े उसमें और उसके इसमें करने लगी। अथवा कमरे में जोर-जोर से झाड़ू ही देने लगी। और नहीं तो कमरे में आकर ऊपर छत की शहतीरों को देखती बैठ रही।

उसका अतृप्त, विफल, कुण्ठित मन ऐसे समय किस-किस असम्भव सम्भावना की ओर नहीं दौड़ता? सोचती, वह इस घर को छोड़ कर भाग जाय। यहाँ उसका क्या है? फिर सोचती, बाहर भागने से क्या बनेगा? क्यों नहीं ऐसी आँख मूँद कर सो जाय कि उठने की आवश्यकता ही निश्शेष हो जाय? फिर ये लोग जानें तो कि मुझ में भी जी था और मैं जीना भी चाहती थी। नहीं तो मैं मरना भी जानती थी।

सोचते-सोचते एकाएक वह विपिन को देखने को अत्यन्त आतुर हो उठती और यदि वह पास न होता तो वह पुकारती हुई दौड़ने लगती, "विपिन, विपिन!"

विपिन ही एक था जिसके कारण उसका यहाँ लगाव था। नहीं तो वर्तमान से न उसे कुछ लेन-देन था और न वास्तव से कुछ प्रयोजन ही। कल्पनाओं से वह अवास्तव को वास्तव बनाकर अपने सामने खड़ा करती और कुछ तृप्ति पाती और स्मृति द्वारा व्यतीत को फिर से प्रत्यक्ष बनाती और रस लेती।

यह था, पर यह शून्य तृप्ति और सूखा रस जाने कितने मँहगे मोल उसे मिलता था। जाने कितनी न कसक, कितनी न दुराशा, कितनी न छलना साथ-साथ उसे सहनी होती थी। तब इसके लिए उसने आविष्कार करके सहज औषध पा ली, काम। काम में ही वह लगी रहती। कभी अपने को फुरसत न लेने देती। घड़ी-आध

घड़ी जहाँ वह खाली रही कि चारों ओर से सोच-विचारों से घिर कर घुटने-सी लगी, बस, इससे वह खाली ही नहीं रहती थी।

कुछ गुनगुन गाती हुई-सी वह काम में लगी रहती। किसी गीत का छोर उसकी याद में अटका था, वही हर काम के वक्त उसकी टेक बना रहता था। पर वह किसी को भी स्पष्ट न सुन पड़ता था और कभी उसकी ध्वनि गुनगुनाहट से ऊँची न होती थी।

भानामल को वह सम्भालती और भानामल की उपेक्षा भी उसे सम्भालनी होती थी। भानामल ने जीवन के पहले रोज से ही उसे अपनी सेवा में पाया। इससे उसके मूल्य की आँक उसे नहीं हुई। माँ की छाँह सदा सहज रूप में उसके ऊपर छाई रही, धूप के नीचे खुले खड़े होने का उसे अवसर नहीं आया, इससे वह नहीं जान सका कि उस छाँह में क्या है। फिर विपिन को भी वही सम्भालती थी। बहू बीमार रह सकती थी, भानामल दुकान की और बहू की सेवा में और सब बातों की ओर से लापर्वाह रह सकते थे और विपिन खेलता-खाता और बढ़ रहा था, इसलिए तो, कि सबका बोझ चुपचाप अपने ऊपर लिए यह बुढ़िया जीती बैठी थी। इस बोझ ने उसको चारों ओर से कसकर ऐसा दबा रखा था कि उसे पता नहीं चलता था और वह जैसे अपने को और खुला हुआ अनुभव करती थी। जैसे इसके अभाव में उसे जीना ही दूभर हो जाता, लगभग उसी तरह जैसे हवा के चारों ओर के अपरिमित दबाव के बीच में रहकर ही हम जी पाते हैं। वही दबाव चारों ओर से यदि लुप्त हो जाय तो हम क्षणभर न जी पायँ।

बावन वर्ष की अवस्था में ऐसे वह नारी अपने स्नेह-हीन

जीवन की लौ को क्षण-क्षण जलाती हुई प्रकाशमान रूप में टिकी हुई थी।

: ३ :

एक साँझ को वासन माँजते-माँजते अनायास बुढ़िया देख उठी कि बादल साधारण से अधिक नील श्याम होकर एक ओर इकट्ठे होते जा रहे हैं। शायद उनकी बरसने की इच्छा है। बयार हल्की हो गई है और उसकी हिलोर में ठण्डक अधिक है।

वासन वह माँजती ही रही, पर गाने का गुनगुनाना उसका रुक गया। देखने लगी, पक्षी जैसे अधिक उल्लास से अपनी चोचों को नीले आकाश की ओर उठाकर उड़ रहे हैं और चक्कर काट रहे हैं।

देखते-देखते एकाएक ही उसने फिर गीत गुनगुनाना आरम्भ कर दिया। अनायास ही उसकी ध्वनि कुछ स्पष्ट हो उठी। उसने गाया...। पर, गीत को एक साथ ही रोककर वह जैसे सावधान हो गई और मनोयोगपूर्वक वासन माँजने लगी।

निबट-कर वह अपनी कोठरी में आई। आज उसके भीतर क्या भूला हुआ छिड़ उठा है कि वह मूक हो गयी है। वह जैसे किसी दूरागत संगीत को सुनने में लगी है, स्वयं सब-कुछ भूल बैठी है।

कुछ देर चुप बैठी रहकर उसने अपना एक बक्स खोला, तह-के-तह कपड़े उसमें से निकाले और नीचे से जन्मपत्री की तरह से लिपटा हुआ एक कागज निकाला। उस कागज को लेकर पढ़ने की जल्दी उसने नहीं की। जल्दी उसे किसी बात में, किसी काम में, नहीं थी। उसने ठीक ढंग से कपड़े तह-कर उसी बक्स में रखे

और फिर वह चिट्ठी हाथों में लिए हथेली पर अपनी ठोड़ी रख-कर खिड़की में से पार क्षितिज को देखती हुई बैठी रह गई।

वह कागज़ क्या है ? उसका वह क्या करेगी ? फाड़ देगी ? फेंक देगी ? उसको वह क्या करना चाहती है ? और उसे क्यों यों हाथों में लिए चुप बैठी है ?

पर वह बैठी ही रही। कुछ देर बाद उसने उसे खोला। खोलते-खोलते अन्त में उसमें एक बहुत छोटा-सा पीले कागज़ का टुकड़ा निकला जिसमें पेन्सिल से कुछ लिखा था। उसे भी उसने पढ़ा नहीं और उतने से टुकड़े को फिर हाथों में लिए रहकर वह उसी भाँति बैठी रही।

बैठी-की-बैठी ही वह कहाँ पहुँच गई, क्या हो गई ? इस टुकड़े को हाथ में थामे काल और देश की समस्त रेखाओं के ऊपर वह इस समय क्या हो उठी है कि उसका निमेष नहीं लगता और उसके चेहरे में चमक आती जा रही है।

उसने अनुभव किया : वह पीला कागज़ उसके हाथों में अभी हाल आया है, अभी किसी ने कंकड़ी में बाँधकर खिड़की की राह उसके चरणों में फेंक दिया है और अभी पढ़कर वह उसे चुकी है !

धीरे-धीरे उसने कागज़ खोला। खोलकर पढ़ा। क्या पढ़ा ? क्या छत्तीस बरस पुराने उस कागज़ पर के पेन्सिल के हरफ पढ़ने में आ सकते थे ? पर, उसने पढ़ लिया !

पत्र के अक्षर उसके मन के भीतर एक-एक अंकित थे। पुराने घाव की तरह उघड़-कर वे हरे हो गये। उनके उत्तर में आज वह जैसे समग्र की समग्र उद्यत हुई प्रस्तुत बैठी है। 'प्यारी तैयार रहना,'—और आज उसका मन 'प्यारी' शब्द सुनकर किस बात के लिए तैयार नहीं है ?

उसने पाया : मंगल की रात है, एक बज गया होगा, चाँदनी अभी निकली है और वह घर की चौथी मंज़िल-वाले सूने कोठे पर दबे पाँव पहुँच गई है। वहाँ ही आ पहुँचा वह जिसके लिए वह और जिसने उसे तैयार रहने के लिए लिखा है।

है, आते ही उसने कहा, "देर न करो, रानी, चलो।"

रानी ने उसे कसकर पकड़ लिया, कहा, "चलूँ ? मेरी सगाई हो गई है। मुझे डर लगता है।"

"डर लगता है ?"

"मैं कैसे चलूँ ?"

"क्यों ?"

उस समय उसके मन में आया, अरे, वह प्रेम के लिए क्या नहीं कर सकेगी। पर उसका गला-भर उठा और उसने चिपट-कर कहा, "मुझे भूल जाओ।"

व्यक्ति ने धीमे-से उसे अपने से पृथक् किया, कहा, "तो नहीं जा सकोगी ?"

"नहीं जा सकूँगी, कैसे जा सकूँगी, मुझे तुम भूल जाओ।"

व्यक्ति तुरन्त न बोल सका। फिर इतना ही बोला, "तो नहीं ही जा सकोगी ?"

तब मानो ज़ोर के साथ उसने अपने से ही कहा था, "क्या, मैं अपनी हूँ ? मैं जा सकती हूँ ?—नहीं, मेरी सगाई हो गई है।"

मानो किसी गहरी चोट के स्थल पर छिड़कर उस व्यक्ति ने कहा, "तुम अपनी नहीं हो, तो मेरी भी नहीं हो ? उसकी नहीं हो जो तुम्हारे लिए जीता है, और मरेगा तब तुम्हारे लिए मरेगा ? तुम उसकी हो जो तुम्हें नहीं जानना चाहता, नहीं पाना चाहता, पाने के लिए कुछ करना नहीं चाहता. पर सगाई, जिसके

नाम के साथ हुई है ? प्राणों के मोल तुम्हें जो पाना चाहता है, उस प्रेम की तुम नहीं हो ? गृहस्थी के और बच्चों के लिए जो तुम्हें ले लेगा उस विवाह की तुम हो, क्यों ?"

तब सरला ने क्या कहा ? तब जो उसने कहा, किया, अब यहाँ बावन वर्ष की अवस्था में बैठी हुई सरला मानो वह नहीं करना चाहती। चाहती है वह उसका कहा हुआ, किया हुआ फिर जाता और इतिहास नया आरम्भ होता।

उसने, तब दोहरा दिया था, 'प्रेम !' और वह सहमी-सी रह गई थी।

उस व्यक्ति ने चीख़ कर कहा, "क्या ?"

इस व्यथा की चीख को सुनकर वह गल जाने को हो गई, पर चुप रही।

व्यक्ति ने गरज कर कहा, "तू क्या चाहती है कि मैं मर जाऊँ और तू जीती रहे ? मैं तेरे बिना नहीं जीऊँगा, और मरूँगा तो तुझे भी जीती नहीं छोड़ूँगा।"

उस समय जिस उद्वेग और कम्पन और पुलक का सरला ने अनुभव किया था, वही मानो उसके गात में अब भी हो उठा। वह मानो अब भी खिड़की में से उसके आ जाने की प्रतीक्षा कर रही है जो कहे, 'तेरे बिना मैं जीऊँगा नहीं.' और उसके आगे कहे, 'तेरे लिए मरूँगा और तुझे भी जीता नहीं छोड़ूँगा।'

पर, सरला ने तब कहा था, "मैं हाथ जोड़ती हूँ, ज़ोर से मत बोलो, कोई जग जाएगा। और तुम चले जाओ।"

व्यक्ति ने भयंकर धैर्य के साथ कहा, "मैं चला जाऊँ ?"

सरला डरती हुई उसे देखने लगी।

पर, धीरज रहा नहीं, और वह बोला, "कम्बख्त, तू कहती है मैं चला जाऊँ? जाऊँगा और तुझे मिटाके जाऊँगा।"

उस समय सरला के मन में भय हो उठा था। आज यह सोच रही है कि वह आमन्त्रण-पूर्वक अपने प्रेमी के हाथों मर क्यों नहीं जा सकी। वह भयभीत हो कुछ भी नहीं बोल सकी थी।

उस व्यक्ति ने तब अलग खड़े होकर, "बोल, तू जीना चाहती है? या मरने की हिम्मत भी रखती है?"

सरला ने तब क्यों हाथ फैलाकर और छाती खोलकर नहीं कहा, "मुझे गोद में ले लो प्यारे, और मुझे मार दो। मैं जीना नहीं चाहती।" हाय, क्यों नहीं तब वह यह कर सकी, क्यों भीता चकिता-सी गुम ही बैठी रही।

व्यक्ति ने अत्यन्त विषाद, घृणा, और करुणा के स्वर में कहा, "तू जीना चाहती है। अभागिन, ओछी नारी, तू जी।"

इसके बाद उस व्यक्ति ने अपने दोनों हाथों में उसे ले लिया। टुक देर उसकी आँखों में आँख लगाए देखता रहा। वह उस समय डर रही थी।

पुरुष ने कहा, "डरती हो! नहीं, डरो नहीं।"

कहकर उसने उसे छोड़ दिया। फिर बिना पीछे की ओर देखे मुँडेर पर चढ़ वह तीन मंजिल नीचे उस गली की ईंटों पर गिरकर मर गया!

वह आज बैठी-बैठी उस काग़ज़ को हाथ में लेकर उसी मरे व्यक्ति को देखने लगी जो उसके लिए ऐसी साध से जिया था और जो उसके लिए क्षण में मर भी गया। वह पाप-पुण्य नहीं जानती। वह इतना जानती है कि वह क्षण उसके जीवन में फिर आ सके

तो वह अपने को मौत से न बचाये, और वह उस व्यक्ति के साथ, मौत के मुँह में ही चाहे हो, कृतार्थ भाव से चली जाय।

इस स्मृति के साथ ही वह अपने विफल यौवन को मानो फिर से अपने भीतर ऐसी तरंगें लेता हुआ अनुभव करती है कि मृत्यु, अपनी विभीषिका तजकर, प्रिय और तुच्छ वस्तु हो रहती है।

......उसे दीख उठा,—वही, एक छोटा-सा अपराध करके सामने मुस्कराता हुआ खड़ा है, और क्षमा माँग रहा है। और, वह बड़ी बिगड़ी हुई है।

उसने कहा, "रानी, तुम नाराज़ हो रही हो? जानती हो, इससे तुम कितनी और सुन्दर नहीं हो जातीं?"

तब मन-ही-मन वह गर्व से भर उठी, बोली, "चुप रहो।"

उसने कहा, "तो मुझे सज़ा ही दे दो।"

तब भी उसने कहा, "चुप रहो।"

उस पर वह उसके पैरों को पकड़कर चूमने लगा।......

उस समय अद्‌भुत भाव से उद्वेलित हो वह सहसा उठकर खड़ी हो गई। उसे लगा, उसके पैर चूमे जा रहे हैं और वह अपने पैर हटा नहीं रही है, जैसे कि उसने तब भी नहीं हटाये थे।......

तभी क्या देखती है कि एक व्यक्ति उसके सामने आकर कह रहा है, "माँ......।"

वह कुछ नहीं पहचान सकी। देखकर उसे यही बोध हुआ कि वह उसका प्रेमी नहीं है। फिर यह क्या है, जो उसे "माँ" कहकर पुकार रहा है? उसको, जो अविवाहिता है, किशोरी है!

भानामल ने कहा, "माँ, शशि की दवा तुमने तैयार करके अभी क्यों नहीं दी?"

वह देखती ही रह गई, कुछ समझ नहीं पाई।

इतने में विपिन ने आकर कहा, "दादी !......"

"दादी !"—वह स्तम्भित, मानो विडम्बना में, सन्न रह गई।

तभी, क्षण बीतते-बीतते एकाएक यथार्थता का बोध उस पर फटकर पड़ा। वह खो-सी रही। फिर,—फिर अत्यन्त विनीत स्वर में उसने कहा, "दवाई ! अभी बनाए देती हूँ बेटा, दवाई।"

भानामल ने चलते-चलते कहा, "माँ, दवा के मामले में अब से लापरवाही नहीं होनी चाहिए।"

माँ ने कहा, "अच्छा बेटा।"

और माँ ने सोचा, एक मिनट खाट पर मैं जरा और बैठ लूँ तो दवा में बहुत देर तो नहीं हो जायगी ? पर, वह बैठी नहीं, दवाई के लिए चल दी।

●

पूर्ववृत्त

अदालत में आज बड़ी भीड़ है। अखबारों में इसकी खूब चर्चा है। मामला यह है कि प्रशान्त का कहना है कि शान्ति उसकी विवाहिता है। और शान्ति का दावा है कि यह सब उसके पिता से पैसा ऐंठने का उपाय है। उसने अखबार में यह छपाकर कि मेरा उससे विवाह हुआ है, मुझे बदनाम करने की कोशिश की।

दावा शान्ति की ओर से है। प्रशान्त के साथ दूसरा अभियुक्त अख़बार का सम्पादक है जिसने यह खबर छापी है।

सम्पादक ने कहा कि प्रशान्त ने खुद उसको रिपोर्ट दी थी। प्रशान्त को मैं तीन वर्ष से जानता हूँ। कोई वजह नहीं कि मैं उस की रिपोर्ट झूठ समझता। वह मौतबिर आदमी है, ग्रेजूएट है, और मेरे अखबार में अक्सर लेख-कविताएँ लिखता है। मैं निजी बातें अक्सर नहीं छापता, लेकिन मुझे बताया गया कि लड़की के पिता जबरन उसकी शादी करना चाहते हैं। जब्र नामुनासिब है। ऐसी अनीति को रोकने के लिए अखबार न हो तो क्या हो? इस ख्याल से मैंने खबर छापी थी। उस वक्त मैं वैसा करना सही और

मुनासिब मानता था। लेकिन अगर वह बात गलत है और मुद्दई को सदमा पहुँचा है, तो मुझे उस पर अफ़सोस है।

प्रशान्त ने अदालत में पत्र पेश किये कि मैं अध्यापक हूँ। मेरी संस्था थी और उसमें पढ़ने आया करती थी। पढ़ने से अधिक पढ़ाने आया करती थी। नहीं, वेतन नहीं लेती थी। फीस हाँ देती थी उसका मुझसे प्रेम हुआ।

शान्ति ने इस पर अपने स्थान से कुछ कहा, जिसे ठीक तरह नहीं सुना जा सका।

उस पर प्रशान्त कुछ उत्तर देने को था। लेकिन अदालत ने सब को चुप किया। और प्रशान्त को अपना बयान जारी रखने को कहा।

प्रशान्त ने कहा, "मैं प्रेम के लिए अपने को दोष नहीं दे सकता। उसका यह कहना कठिन है। मेरी अवस्था पैंतीस वर्ष है। पत्नी है, बारह वर्ष की एक कन्या है। अदालत में जो पत्र हैं, लड़की ने स्वयं लिखे हैं।"

पूछा गया, "उनसे तुम क्या सिद्ध करना चाहते हो?"

"प्रेम नहीं, विवाह साबित करना है।"

उत्तर में उसने कहा, "उन पत्रों से मेरे प्रति उस की भावना का पता चल सकता है।"

आगे प्रशान्त ने अपना बयान जारी रखते हुए कहा, "प्रेम एक छल हो सकता है। मैं इतना युवक नहीं हूँ कि इस बात को न समझूँ। फिर भी मैं उसका निरादर नहीं कर सकता। मेरा विवाहित जीवन सुन्दर नहीं है। आरम्भ शायद हममें सहानुभूति से हुआ, मैंने अपने घर की हालत बतलाई। अपने स्वप्न बतलाये। मैंने कहा कि मुझको समझने-वाला जीवन-संगी कोई होता तो मैं

कितनी न उन्नति करता। सहानुभूति की माँग जीवन में स्वाभाविक है। युवावस्था में सहानुभूति सुलभ भी है। वही शायद साधन होकर प्रेम में परिणत हो गई। पत्रों में आप देख सकते हैं कि प्रेम के स्थायी होने की शपथें हैं। मैंने सुझाया कि प्रेम स्वयं पवित्र है। पर विवाह से वह व्रत हो जाता है। वह विवाह के लिए भी राज़ी हुई। लेकिन उसने कहा कि माता-पिता इसमें साथ नहीं देंगे, क्या हममें प्रेम ही काफी नहीं है? और मन में तब वह माता-पिता और समाज से डर रही थी। मैंने कहा कि भय उचित नहीं और विवाह होना ज़रूरी है। मैं विवाह को अन्तिम तो नहीं मानता, पर मन की रोकथाम के लिए एक मर्यादा अच्छी है। व्यवस्था में भी उससे सुभीता होता है। नहीं यह ग़लत है कि मेरी निगाह इसके पिता के पैसे पर थी। समझौते के लिए उनकी ओर से पैसे की बात एक से अधिक बार आई। मैंने कभी स्वीकार नहीं किया। खैर, मैं इस बात पर राज़ी हुआ कि विवाह विधिवत् हो, हम लोग एकान्त भगवान् को साक्षी-कर एक-दूसरे का हाथ थाम लें। वैसा ही हुआ। हम अब सम्मिलित रहने का उपाय सोच रहे थे। लेकिन अचानक यह मामला आ गया है। मेरा विश्वास है कि लड़की अपनी ओर से कुछ नहीं कह रही है। सब माता-पिता के दबाव से किया जा रहा है। उसे इसके लिए मारा-पीटा तक गया है। मैं मानता हूँ कि अगर वह अपने मन की बात कह सके तो आप पाएँगे कि मैंने अपने बयान में कोई अत्युक्ति नहीं की।"

प्रशान्त के बयान के बीच-बीच में लोग ताना कसते और हँसते थे। और इस्तगासे के वकील की जिरह में प्रशान्त झेंपकर लाल पड़ आया। उसमें इस तरह के भी सवाल थे कि जैसे क्या तुम अपने को खूबसूरत नौजवान समझते हो? क्या अमुक जगह

से तुम्हें...इत्यादि।

इसके बाद सफाई के वकील ने शान्ति से पूछताछ की, उसने जो जवाब में कहा, यह है—

"मैं अभियुक्त को एक बरस से जानती हूँ। मेरी एक सहेली ने इसके स्कूल का पता दिया था। हाँ, यह मेरे हैं। यह प्रेम-पत्र नहीं हैं। प्रेम इनके लिए मुझमें नहीं हो सकता। जो विवाह कर एक से मुँह मोड़ लेता है, वह दूसरी से प्रेम निभायगा, इसका विश्वास नहीं है। मैं यह बात शुरू से जानती थी। इनकी संस्था में पढ़ती थी, इससे इन्हें नाखुश नहीं कर सकती थी। इसलिए यह पत्र लिखे गए हैं। सिरे से ही जब यह पत्र बनावटी हैं, तो उनमें खूब बड़ी-चढ़ी भाषा लिखी गई हो तो उसमें अचरज क्या है? विवाह की बात सरासर झूठ है। यह इसी से ज़ाहिर है कि मैंने विवाह की हर विधि से इन्हें विमुख किया। भगवान् की साक्षी में आपस में हाथ-पकड़ने की बात भी इनको बहलाने को हुई है। मुझे परीक्षा पास करनी थी। मेरा अब इनसे कोई वास्ता नहीं है। मैं इनसे नफ़रत करती हूँ।"

प्रशान्त ने अपनी जगह से चिल्लाकर कहा, "शान्ति नफ़रत करती हो?"

इस पर कमरे में कुछ गड़बड़ी मची और अदालत ने व्यवस्था स्थापित की—

शान्ति ने बिना उस ओर ध्यान दिए कहना जारी रखा—"नफ़रत करना अच्छा नहीं है। यह मेरे मास्टर हैं। मैं समझती थी कि यह दुःखी हैं। कुछ अपने स्वार्थ से और कुछ दया से मैं इनका मन रखती रही। पर नहीं जानती थी कि यह इतने धूर्त निकलेंगे।"

धूर्त शब्द पर सफ़ाई के वकील ने आपत्ति की। और एक दस्तावेज़ सामने किया। कहा, "मेरा मुवक्किल इस बात को इस हद तक नहीं लाना चाहता था। यही उसकी नेकनीयती का सबूत है। लेकिन जैसा कि इस दस्तावेज़ से जाहिर होता है, शादी गवाहों के सामने बाकायदा की गई थी। मुवक्किल दस्तावेज़ जानबूझकर इसलिए पीछे रखना चाहता था कि मुद्दई को सदमा न पहुँचे और बिना इसकी ज़रूरत पड़े वह सब कबूल कर ले। धूर्त शब्द वापस लिया जाना चाहिए।"

शान्ति ने कहा, "यह दस्तावेज आ गया है तब तो मैं धूर्त शब्द को और भी वापिस नहीं ले सकती। यह काम धूर्त ही कर सकते हैं।"

लोगों ने इस बात में बहुत दिलचस्पी ली, यहाँ तक कि शोर मच आया। अदालत ने शान्ति स्थापित की। अनन्तर उस दस्तावेज़ को लेकर शान्ति से जिरह की गई। जिरह में शान्ति हटती-सी मालूम हुई। उसने पहले कहा कि उसके दस्तख़त बनावटी हैं। फिर कहा, "हो सकता है किसी कोरे कागज़ पर उसने दस्तख़त किये हों। लेकिन पंडित के हाथ शादी होने की बात सच नहीं है। फिर, मन नहीं तो वह शादी क्या? यह धूर्तता है कि यह दस्तावेज़ सामने लाते हैं। इन्होंने वायदा किया था कि कभी इसका इस्तेमाल न होगा। कभी यह किसी को दिखाया न जायगा। दस्तख़त, हाँ मेरे हैं, लेकिन यह आदमी कमीना है।'

शान्ति इधर-उधर की कहने लगी थी। उस प्रलाप से साफ़ था कि दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर उसके हैं। और कागज़ से प्रमाणित था कि विधिवत् पण्डित ने दो साक्षियों के समक्ष इनका विवाह कराया है।

शान्ति ने कहा, "दस्तख़त होने पर भी, दस्तावेज़ झूठे हैं और मैं हरगिज़ इनके साथ नहीं रह सकती।"

सफ़ाई के वकील ने अपना सारा ज़ोर दस्तावेज पर डाल दिया और उसके सिलसिले में गवाहियों के लिए केस को अगली तारीख़ दी गई।

अदालत उठते समय शान्ति अस्थिर थी और प्रशान्त का मुँह नीचे झुका हुआ था। वह किसी ओर देख नहीं रहा था।

प्रशान्त ने बहुत चेष्टा की पर शान्ति से मिलना सम्भव न हुआ। न सन्देश भेजा जा सका।

शान्ति अब मानो पहरे में रहती थी। बाहर लोगों में उसकी चर्चा थी, और पिता बहुत परेशान थे। प्रशान्त को समझाने या दबाने के सब प्रयत्न निष्फल जा चुके थे। अब वह भी सोच बैठे थे कि इज्जत तो गई ही; तो बात को बीच में न छोड़ेंगे। राह न मिलने पर शान्ति को वह दो-एक बार पीट भी चुके थे।

स्थानीय पत्रों की सहानुभूति शान्ति की ओर थी। पर बात का जग-जाहिर होना उन्हें खलता था। तो भी उन्हें विचार होता था कि शायद इस प्रकार की ख्याति में से ही लड़की के भविष्य का कोई मार्ग निकल आए।

ऐसे ही समय एक सार्वजनिक पत्र के सम्पादक उनके पास आये। उन्होंने कहा कि वह उसकी कन्या की दृढ़ता से प्रभावित हैं। और उससे स्वयं मिलकर वातावरण को साफ़ करने में मदद देना चाहते हैं। बहुत समझाया तो पिता मुलाक़ात के लिए राज़ी हो गए।

शान्ति विस्मय में हो आई, जब देखा कि सम्पादक के नाम पर

प्रशान्त के मित्र देवचन्द्र उसके सामने उपस्थित हैं। पर इसका आभास उसने किसी को नहीं दिया।

पिता ने कहा, "आप पन्द्रह मिनट ही चाहते हैं न ?" यह कहकर वह वहाँ से हट गए।

देवचन्द्र ने कहा, "शान्ति, तुम्हारे मन की बात पूछने प्रशान्त ने मुझे भेजा है।"

शान्ति ने कहा, "वह मेरी ख्वारी काफ़ी कर चुके, अभी और बाकी है ?"

देवचन्द्र ने कहा, "शान्ति, उसने क्या किया है ?"

शान्ति, "नहीं, सब मैंने ही किया है।"

"अब तुम क्या चाहती हो, शान्ति ? प्रशान्त ने तुम्हारे मन की बात जानने को मुझे भेजा है। वही वह करेगा।"

शान्ति ने कहा, "मुझे क्या अब कहीं जीती रहने लायक उन्होंने छोड़ा है। उनको इतनी शर्म नहीं कि मैं दावा कर रही हूँ तो चुप रहें ?"

देवचन्द्र ने कहा, "तुम चाहती हो कि दोषी बनकर वह चुपचाप जेल चला जाय ? वह आप तो अदालत नहीं आया, घसीटा गया है। तो सफ़ाई भी न दे ?"

शान्ति, "मेरे लिए वे जेल नहीं जा सकते ?"

देवचन्द्र ने विस्मय से कहा, "उसे जेल भेजकर तुम क्या पाओगी ?"

शान्ति ने कहा, "तब सुभीता होगा और पिता मेरी शादी कर सकेंगे। बाहर रहकर वह यह न करने देंगे।"

"क्या कह रही हो शान्ति, क्या तुम यही चाहती हो ?"

"हाँ, चाहती हूँ कि जो होनहार हो, वह मुझ पर से हो जाय।

वह क्या इतना नहीं समझ सकते ? मैंने पहले भी उन्हें समझाना चाहा। नहीं समझे तो अब अदालत की नौबत आ गई है। मैं अपने वश की नहीं हूँ। नारी-धर्म में स्वतन्त्र कुछ नहीं होता। पिता जब तक पति को सौंपे, कन्या तब तक उसकी। सुनते हो ? कुछ और नहीं हो सकता, इससे अब यही है कि मेरी खैर चाहते हैं तो वह जेल चले जायँ।"

"शान्ति, लेकिन उसके साथ एक और बेगुनाह आदमी—"

शान्ति ने कहा, "उसका कुछ न बिगड़ेगा।"

देवचन्द्र ने घड़ी की ओर देखा। समय जा रहा था। उसने जेब में हाथ डाला पर शान्ति की आँखों में इनकार का इशारा देखकर वह हाथ उसने खींच लिया। वह समझता था कि कहीं अदृश्य से दो आँखें उन्हें देख रही हैं। उसने धीरे कहा, "देखो, मैं मित्र की ओर से अन्तिम बार तुम से कह रहा हूँ। वह तुम्हें, तुम्हीं साफ़-साफ़ न कहो, तब तक नहीं छोड़ सकता। तुम्हारे बिना उसे सब सूना है ! दूसरी बात यह कि जो तुम कहोगी, वही वह करेगा। तुम कह दो कि मन से उसे नहीं चाहती हो, दूसरा विवाह चाहती हो, तो वह आपत्ति न करेगा। वह जो-कुछ कर रहा है, इस विश्वास पर कि तुम्हारा मन उसी की तरफ़ है, माता-पिता के दबाव से ज़ाहिर में फिर कुछ भी करो—अगर ऐसा नहीं है तो कहने-भर की देर है कि—"

शान्ति, "मन की बात वृथा है। उन्हें कह देना कि मन पर दावा नहीं होता। और मेरी मानें तो अदालत की सज़ा ले लें और जाकर जेल में बैठें।"

देवचन्द्र ने कहा, "एक यही उपाय है ?"

शान्ति ने कहा, "नहीं, दूसरा भी है। वह यह कि साबित कर

दें कि मैं उनकी हूँ और अदालत के जोर से माँ-बाप से मुझे छीन जायँ। पहला सज्जन का है, दूसरा दुर्जन का। अब वह अपनी ओर देख कर चुन लें।"

देवचन्द्र ने कहा, "शान्ति, तुम जानती हो कि तुम्हारा सम्बन्ध..."

शान्ति ने बीच ही में कहा, "उसी सम्बन्ध के बल पर न उन्होंने मुझे व्यभिचारिणी प्रसिद्ध कर छोड़ा। मुझे मंजूर है। मेरी कुछ इज्जत बची है कि कहीं रह सकूँ? तुम्हारे मित्र को शर्म तो नहीं आई कि पत्र अदालत में पढ़वाते हैं। मेरी मानो तो उन्हें कह देना, मेरा होना था सो हो गया, पर भला चाहें तो दंड से बचें नहीं।"

देवचन्द्र ने कहा, "शान्ति, अन्याय न करो। उसके दुख को तुम नहीं जानतीं। दुनिया उसके नाम को थूकती है। रोज़ी उसकी गई; अपने पराये हो गए। माँ तक ने छोड़ दिया। पत्नी तो उसकी थी कब? एक इसी आशा का उसे सहारा था कि तुम उसे मानती हो; पर जो तुम भी नहीं मानतीं तो उसके लिए सब खतम है।"

शान्ति ने क्रोध में कहा, "हाँ, मेरे पास कुछ नहीं है जो नष्ट नहीं हो गया। अब उन्हीं से पूछना कि क्या बचा है जिसे धूल में मिलाना और ज़रूरी है।"

देवचन्द्र कुछ कहना चाहते थे कि शान्ति ने संकेत किया। कोई आ रहा था। तब साधारण भाव से उन्होंने कहा, "तो विवाह के सम्बन्ध में आप माता-पिता को पूर्ण अधिकारी मानती हैं और उनकी बिना अनुमति विवाह को जायज़ नहीं मान सकतीं?"

"हाँ, यदि माता-पिता ऐसा चाहें तो कन्या को झुकना चाहिए।"

इतने में शान्ति के पिता वहाँ आये। और उन्होंने यह सुना, बोले, "आपने देख लिया न कि सब उसी आदमी की धूर्तता है।"

देवचन्द्र ने कछ हाँ-न किया, उठकर उनका आभार माना और वहाँ से चले आए।

आकर प्रशान्त से सब कह सुनाया। प्रशान्त उस समय सोच में था। सुनकर और भी सोच में हो गया।

कुछ देर रुककर सहसा उसने कहा, "मैं पहेली सुलझा नहीं पाता हूँ, देवचन्द्र! तुम बता सकते हो, मैंने कहाँ भूल की?"

"नहीं, मैं नहीं बता सकता।"

"तो वह चाहती है, मैं सज़ा ले लूँ—तुम्हारी क्या राय है?"

"मेरी राय? मेरी राय है कि तन से ऊपर तुम्हें मन की कीमत हो तो उसकी कद्री रखो।"

"वह चाहती है—"

"त्रास पाना और त्रास देना।"

प्रशान्त गम्भीर हो गया। बोला, "देवचन्द्र, मानता हूँ मैं कि युग बदल रहा है। मैंने विवाहपूर्वक ही प्रेम को जो स्वीकारना चाहा, उसी का न यह फल है? देवचन्द्र, वह लड़की एक दम पुंश्चली है।"

देवचन्द्र ने कहा, "मित्र, तुम्हारा मस्तक ठिकाने नहीं है।"

प्रशान्त ने उत्तेजित होकर कहा, "हाँ, शायद नहीं है। पर यह नहीं सहा जा सकता कि एक के साथ सम्बन्ध होने पर स्त्री अपना धर्म न निबाहे। शान्ति के बारे में और भी यह नहीं सहा जा सकता। यह अनीति नहीं होने पायगी, देवचन्द्र। माता-पिता को क्या इतनी हया-शर्म नहीं है?"

देवचन्द्र ने कहा, "अब मैं समझा कि भूल कहाँ है? यही है कि दूसरे का न्याय तुम अपने हाथ में लेते हो। शान्ति के चरित्र की रक्षा के नीचे कहीं तुम अपनी ही कामना को तो नहीं चाहते हो? शायद यही है जिसने शान्ति को भड़का दिया है।"

प्रशान्त ने भँवें सिकोड़ कर कहा, "क्या मतलब ?"

देवचन्द्र ने हँसकर कहा, "कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

प्रशान्त ने कहा, "स्त्री के शील की हमारे यहाँ मर्यादा है। उसी पर हमारी संस्कृति और हमारे समाज का विधान खड़ा है। वही डिगेगा तो हमारे पास रह क्या जायगा ? नहीं, वह न हो पायगा, देवचन्द्र !"

देवचन्द्र आँखें फाड़े प्रशान्त की ओर देखता रह गया। मित्र में संस्कृति के प्रति ऐसी उत्कटता समय-समय पर उठती उसने देखी है। लेकिन यह अवसर उसे अनुकूल मालूम हुआ। उसने कहा, "प्रशान्त, आज तुम्हें हो क्या रहा है ? पत्नी रहते दूसरे से प्रणय और परिणय रचाते हो, तिस पर शील और मर्यादा की बात कहते हो। स्वार्थ को कहीं विवेक की भाषा पहनाकर तो बात नहीं कर रहे हो ?"

प्रशान्त ने कहा, "शास्त्रों ने पुरुष को एकाधिक विवाह की अनुमति दी है।"

देवचन्द्र ने कहा, "शास्त्रों में जो खोजो, पाओगे। कामधेनु हैं, इसी से वे शास्त्र हैं। पर शान्ति को तुम क्या समझते हो ?"

"क्या समझूँ ? अब तो समझना होगा कि वह कुटिल है।"

देवचन्द्र ने कहा, "सुनो प्रशान्त, तुम मेरे सामने उसको कोई अपशब्द नहीं कह सकते। सुनते हो ?"

सुनकर प्रशान्त देखता रह गया। कहा, "क्या ?"

कहने के बाद देवचन्द्र के देखते-देखते एक व्यङ्गपूर्ण मुस्कराहट से उसका चेहरा बिगड़ आया।

देवचन्द्र ने कहा, "तुम अपनी निराश कामना में से उसे ठीक देख सकते हो, प्रशान्त ?"

प्रशान्त ने कहा, "तो भी कुछ-कुछ देख सकता हूँ !"

उस बात में भरे व्यङ्ग पर विस्मय से देवचन्द्र पुकार उठा, "प्रशान्त !"

देवचन्द्र के मुख पर व्यथा देखकर प्रशान्त कुछ प्रकृतिस्थ हुआ और कहा, "तो मैं क्या करूँ, बताओ !"

देवचन्द्र ने कहा, "व्यतीत की ओर से भविष्य के प्रति दावा न जताओ। मैं होता तो उसकी मर्ज़ी में अपने को छोड़ देता। प्रेम मिला, वहाँ से त्रास भी उसी कृतार्थ भाव से लेता।"

प्रशान्त ने भौंचक होकर कहा, "देवचन्द्र, सच कहो, तुम मेरे मित्र हो ?"

देवचन्द्र ने कहा, "नहीं, यह मेरी बात मित्रता की नहीं, सत्यता की है। शान्ति परेशान है। एक तरफ़ माता-पिता उसे नहीं समझते, दूसरी तरफ़ तुम उसे समझना नहीं चाहते। दो पाटों के बीच उसकी जान क्यों पीस रहे हो ? माता-पिता के प्रति शान्ति उद्धत नहीं होना चाहती। तुम उसके त्रास को ले नहीं सकते। फिर बलिदान ही तो उपाय है। उसी ओर वह चल रही है। यह बात समझ लोगे तो फिर रोष नहीं कर सकोगे।"

प्रशान्त मित्र की बात नहीं सुन रहा था। वह दूर चला गया था। बल्कि उसे देवचन्द्र का बोलना बुरा मालूम हो रहा था। शब्द उसे शोर मालूम होते थे। उसने कहा, "देवचन्द्र, तुम नहीं जानते, मुझे आठ दिन से नींद नहीं आई। रात-दिन वही एक बात घूसती रहती है। यह सच नहीं है कि मेरी तकलीफ़ शान्ति को नहीं मिलती, पर यह सच है कि वह भी कष्ट में है। तुम बहुत जानते हो, पर क्या तुमने सहा है ? जो मैं सह रहा हूँ, उसका सौवाँ हिस्सा भी सहा है ?"

देवचन्द्र ने कहा, "कहना सहने का लक्षण नहीं है, प्रशान्त ! लो, मैं चला।"

"देवचन्द्र, नाराज़ न होना। मेरा मन ठीक नहीं है। तो मेरी चिट्ठी उसने तुम्हारे सामने नहीं खोली ? नहीं पढ़ी ? देवचन्द्र, मुझे विश्वास दिला सकते हो कि तुम मेरे मित्र हो ?"

देवचन्द्र ने कहा, "प्रशान्त, वृथा अपने को कष्ट न दो।"

प्रशान्त ने कहा, "सुनो देवचन्द्र, मैंने सब तुम्हें नहीं बताया है। नौकरी गई ही। २०००) रुपये मैं माँ का बक्स तोड़कर चुरा लाया हूँ। करीब ४०००) स्त्री के ज़ेवर बेचकर बना लिये हैं। इतना ही सूद पर कर्ज़ मिल गया है। यह सब मुकदमें के लिए। मेरे लिए यह जान की बाजी है। लेकिन देवचन्द्र, मन अब बैठ रहा है। मेरा यह विश्वास छिन रहा है कि वह मुझे चाहती है। तब सब फिज़ूल है। मन का दुःख क्या दूसरे के मन की चोट से भरेगा ? आदमी, देवचन्द्र ऐसा ही करता है, दुःख को दुःख पहुँचा कर धोना चाहता है। रोज़ सोच रहा हूँ, देवचन्द्र ! देख रहा हूँ कि यह आदमी का धोखा है। मेरी चिट्ठी का जवाब मिल जाता तो सब तय हो जाता। वह मन की बात सीधी मुझ से कहती क्यों नहीं ? जैसे मैं पराया हूँ। जैसे मैं सब-कुछ नहीं देखता। देवचन्द्र, मेरी कसक यही है।"

देवचन्द्र सुनता हुआ चुप रह गया। उसके मन में शान्ति की मूर्ति घूम आई। पर उसे लगा कि वह इस प्रशान्त के अतिरिक्त किसी की नहीं हो सकेगी। प्रशान्त यदि सब सहेगा तो शान्ति कहीं रहे, उसी की होकर रहेगी।

देवचन्द्र के जाने के बाद डाक से प्रशान्त को अपने पत्र उत्तर मिला। लिखा था—

"प्रिय,

मैं बहुत नाराज़ हूँ। अपनी रखो तो तुम्हें कसम है जो कुछ बाकी छोड़ो। मैं भी देखती हूँ तब तुम क्या कर लोगे। मेरी रख सको तो अदालत में झूठ बोलकर मुझे और मेरे कुल को बचाना तुम्हारा धर्म है।

तुम्हारी—

शान्ति"

अगली पेशी के दिन अदालत में सनसनी फैल गई, जब प्रशान्त ने कहा कि वह अपराध स्वीकार करता है।

प्रशान्त ने शान्त भाव से कहना जारी रखा, "मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने झूठ ख़बर अख़बार में छपवाई। सम्पादक का दोष नहीं, क्योंकि मैंने कहा ख़बर सच्ची है और मैंने जोर दिया कि इसे छापना सार्वजनिक हित होगा। मेरे मन में मुदई को तङ्ग करने, बदनाम करने और मुमकिन हो तो इस तरह उसके बाप से रुपया वसूल करने की नीयत थी। मेरा पहला बयान सच न था। और दस्तावेज़ भी बनावटी है। पानी—"

गिलास से पानी पीकर कहा, "मुझे दुख है कि मेरे कारण एक सम्भ्रान्त कुमारी की बदनामी हुई और जिस सज़ा के लायक मुझे समझा जाय, मैं तैयार हूँ।"

शान्ति अपनी जगह कुर्सी पर बैठी थी। वह अपने पैर के अँगूठे से खुरचे जाते फ़र्श को देख रही थी। वहाँ से हिली न जुली। सबसे बच कर पल-भर उसने प्रशान्त की ओर विस्मय से देख लिया था फिर झट निगाह नीची कर वह अपनी हथेली पर देखने लगी थी।

इस स्वीकारोक्ति के बाद केस के रुख़ को सम्भाला न जा सका और प्रशान्त को छः महीने की सख़्त सज़ा हुई।

काँटा टला, पर शान्ति का विवाह सुगमता से न हुआ। अन्त में विज्ञापन दिया। शान्ति ने अपने सम्बन्ध के सम्बन्ध में कुछ भी जानने से इनकार कर दिया। उसने कह दिया कि वह पूरी तरह माता-पिता के हाथ में है। अन्त में एक जगह रिश्ता पक्का करके तैयारियाँ शुरू हुईं। तिथि बहुत निकट आ गई तब शान्ति ने अपने माता-पिता से कहा, "प्रशान्त की बात सच थी। और मेरा विवाह हो चुका है।"

पिता ने कह दिया, "वह विवाह न था।" और तैयारियाँ जारी रखीं। और कहा, "तू अगर गड़बड़ करेगी तो मैं सङ्खिया खा लूँगा।" माता ने लड़की का पक्ष लेकर पिता को समझाया तो उन्होंने पत्नी को भी भला-बुरा सुनाकर कहा, "यह विवाह न हुआ तो मैं सङ्खिया खा लूँगा, जो कहीं तुम कुछ और सोचती हो।"

तब शान्ति ने माता के द्वारा अपने भावी वर को लिखा कि मैं कुमारी नहीं हूँ और मेरा विवाह हो चुका है, आप मुझ पर दया कर सकते हैं। पर उसका विशेष फल दिखाई नहीं दिया।

अन्त में भवितव्य हुआ और विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के एक सप्ताह अनन्तर जेल से प्रशान्त आया।

देवचन्द्र जेल के द्वार पर ही प्रशान्त को मिला, कहा, "लो प्रशान्त, मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग हुई और तुम झूठे हो। मेरे पास जिन्दा सबूत है कि तुम्हारा दस्तावेज़ सच था। बड़े मूर्ख हो। जेल तुम क्यों गये? मेरी प्रतिज्ञा तुड़वाने? ख़ैर छोड़ो, यह कहो, मेरे साथ घर चल रहे हो न?"

प्रशान्त सबसे बचना चाहता था। अधिक ठीक कहें तो सबको

अपने से बचाना चाहता था। देवचन्द्र को अनायास भाव से मिलते देखकर उसे कुछ अचरज भी था। उसने कहा, "नहीं, मैं नहीं चल सकूँगा।"

देवचन्द्र ने यह उत्तर नहीं लिया और हठात् प्रशान्त को साथ चलना पड़ा।

कुछ जल-पान और बात-चीत के अनन्तर नवबधू ने आकर प्रशान्त के पैर छुए और प्रशान्त ने आशीर्वाद दिया। मुख पर कुछ घूँघट था, और प्रशान्त की दृष्टि अन्यत्र थी किन्तु जब देखा कि वह शान्ति है, तब भी उसे विस्मय नहीं हुआ।

इस अविस्मित तटस्थ, दूरान्त दृष्टि पर टूटकर शान्ति प्रशान्त के चरणों में सिर डालकर फूट उठी। कहा, "क्या अब मुझे नरक में ही रखोगे, क्षमा नहीं करोगे ?"

प्रशान्त ने इस पर नववधू के मस्तक पर हाथ रखकर उसे अखण्ड सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया।

तदनन्तर लगभग दो वर्ष अपनी पूर्व-पत्नी के साथ गृहस्थ में रहा, फिर उसने सन्यास ले लिया।

महाप्रभु स्वामी शान्तानन्द का यही पूर्ववृत्त है।

◆

परावर्तन

: १ :

दिल्ली, ८ अक्तूबर

प्रिय,

साथ का पत्र मैंने खोल लिया था, क्षमा करना। क्या भाई से कुछ कहा-सुनी हो गई। नहीं तो धर्मशाला में क्यों रहती हो? ज्ञान की पढ़ाई में हर्ज न हो रहा होगा? उसके लिए मैं व्यवस्था कर रहा हूँ। क्या उसका भी मेरे साथ न रहना ज़रूरी है? खैर, जो भी तुम सोचो। लेकिन अब भी हर तरह की बात मुझ से कह सकती हो। और मैं तुम्हारा हूँ।

—कृपादयाल

पुनः—

मालती को न आने के लिए ही न लिखोगी?

कृ०

: २ :

लाहौर
२ अक्तूबर

मेरी प्यारी सखी शीला,

तुम तो मुझे भूल ही गइं। घर में जो दस काम हैं। लेकिन सच-सच यह क्यों नहीं कहतीं कि हमारे भाई साहब से ही तुम्हें फ़ुर्सत नहीं मिलती। सुनती हूँ अब तुम लोग अपने नए मकान में आ गए हो। इनकी एक महीने की छुट्टी हो रही है। बड़ी मुश्किल से राज़ी हुए हैं कि चलो प्रयाग काशी हो आयें। अगर सब ठीक रहा तो महीने के आख़िर में हम तुम्हारे यहाँ आएँगे, दिल्ली दिखाओगी न ? दो रोज़ से ज्यादा का वक्त नहीं मिलेगा। पत्र का जवाब ज़रूर देना। भाई साहब से फ़ुर्सत न हो तो निकाल लेना। ऐसी क्या तुम उन्हीं की हो गई, मुझे भी भूल जाओगी ? भाई साहब पिछली बार लाहौर आये तो मिले थे। हमने कहा ठहरो, पर कौन ठहरता है ! क्यों जी, तुमने उनके मन को ऐसा बाँध रखा है ? बड़ी स्वार्थिन हो। ख़ैर, आऊँगी तब देखूँगी। ज्ञान को प्यार।

तुम्हारी—
मालती

: ३ :

दिल्ली, ६ अक्तूबर

श्रीमान् जी,

मालती के लिए साथ का पत्र है। उचित समझें तो भेज दीजिएगा। आपकी चिन्ता के लिए मैं कृतज्ञ हूँ, लेकिन मुझे कोई

कष्ट नहीं है। भाई के यहाँ से मैं खुद ही चली आई। धर्मशाला में कई और रहते हैं। कुछ जीवों को तो वह भी नसीब नहीं है। इससे चिन्ता का कारण नहीं। इस महीने का रुपया मुझे अभी तक नहीं मिला है। मेरे नाम का रुपया मेरे हाथ में आप कर सकते तो कोई बुराई न थी। तो भी अदालत मैं नहीं करूँगी। सब आपकी न्याय-बुद्धि पर है, जो चाहें सो करें। मैंने ज्ञान को समझाया है कि बेटा, माँ के साथ तो तू दुःख ही उठायगा। बाप के साथ आराम से रहेगा और क़ाबिल बनेगा। पर वह मुझे छोड़ता ही नहीं है। आप उसे ले जा सको तो मुझे छुटकारा हो, पर घर पर मत रखना। उसे नई माँ से डर लगता है। किसी बोर्डिङ्ग में दाखिल कर सकते हो।

आपकी कोई नहीं

—शीला

पुनः—

आप चाहें तो मालती को आने को लिख सकते हैं। कह दीजिएगा कि मैं मायके या कहीं गई हूँ।

—शी०

: ४ :

दिल्ली

६ अक्तूबर

मेरी चाँद-सी बहिन मालती,

मुद्दत बाद तुम्हारा पत्र मिला। चलो शीला की याद तो आई। तुम आ रही हो जानकर बड़ी खुशी हुई। मकान नया है और खूब जगह है। तुम आती तो धन्य हो जाता। पर जो तुमने आने के दिन लिखे हैं उनमें ठिकाना नहीं है। शायद कहीं बाहर जाना पड़े। कोशिश करूँगी कि ऐसा न हो। तब तुम्हारे भाई साहब

तार दे देंगे। और तुम ज़रूर आ जाना। बाहर जाना पड़ा तो मेरा दुर्भाग्य है, लेकिन फिर बड़े दिन की छुट्टियों में दो रोज़ को ज़रूर आना। मालती, तू कैसी है? सुनती हूँ अब तक अकेली और आज़ाद है। भाई, तू बड़ी मौज में है। औलाद से ज्यादातर दुःख ही निकलता है। पहले तो संसार ही दुःखी ही है। पर छोड़ो, तेरी गिरस्ती तो नन्दन-कानन होगी।

तुम्हारी ही—
शीला

मालती,

ज़रूर आना, भूलना नहीं।

तुम्हारा—
कृ०

: ५ :

दिल्ली
१० अक्तूबर

परम प्रिय बा० नन्दकिशोर,

पत्नी से सूचना मिली है कि आप सब लोग इस महीने के अन्त में प्रयाग के रास्ते में यहाँ उतरने का विचार रखते हैं। मैं अनुगृहीत हूँगा यदि आप इस विचार को निश्चय का रूप दे दें और कृपा कर आतिथ्य का अवसर दें। उत्तर की प्रतीक्षा में रहूँगा।

कृपाकांक्षी
—कृपादयाल

: ६ :

दिल्ली
२७ अक्तूबर

शीला,

मालती आ रही है। सब आ रहे हैं। परसों सबेरे पहुँच रहे हैं। खुद आने का मुझे साहस नहीं हुआ, इससे पत्र है। तुम्हारे बिना कैसे होगा ? कल दोपहर गाड़ी लेकर आऊँगा। चाहो तो इन दिनों मंजुला का इन्तजाम कहीं होटल में कर सकते हैं। शीला, तुम समझ सकती हो। इन्कार न करना। मैं कल आऊँगा।

—कृपा०

: ७ :

दिल्ली
२७ अक्तूबर

श्रीमान् जी,

आदमी ने पत्र दिया। ज्ञान मेरा पत्र लाता है। मालती क्यों आ रही है ? मैंने तो उसे इन्कार लिखा था। मुझे कोई उसका दूसरा पत्र भी नहीं मिला। आप जानें आपका काम। कष्ट न कीजियेगा। मैं नहीं आ सकूँगी।

२७ तारीख को मुझे रुपया मिला। अगले महीने पहली या दूसरी को नहीं मिल गया तो फिर पन्द्रह-बीस की जो नौकरी होगी मुझे कर लेनी होगी, दूसरे के आगे पल्ला तो मैं नहीं पसार सकती।

—शीला

: ८ :

प्रयाग
८ नवम्बर

प्यारी शीला रानी,

मैं क्या कहूँ, बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ। मुझे ईर्ष्या भी होती है। मेरे पति तुम्हारे ही गीत गाते हैं। सच कहती हूँ शीला, दिल्ली में तुम लोगों के पास जैसे इलाहबाद के दिन गुजरे वैसे जीवन में कम आते हैं। मैं बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ कि तुम्हारी गिरस्ती आदर्श है और तुम लोगों में आपस में जो समझ-सौहार्द है उस पर ईर्ष्या होती है। हमारे यहाँ तो कुछ पूछो न शीला, आए-रोज कुछ-न-कुछ रगड़ा-झगड़ा खड़ा होता रहता है। पर तुम लोगों का घर है कि कहीं क्लेश का बादल नहीं। प्रीति से स्वच्छ और मुक्त-हास्य ही वहाँ दिखाई देता है।

एक बात कहती हूँ, कहीं इसका कारण यह तो नहीं कि तुम में पति के प्रति शंका नहीं है और पूरे विश्वास से तुम उन्हें आजाद रखती हो। तुम हमारे साथ सिनेमा नहीं गईं, नुमाइश नहीं गईं। पहले तो मैंने समझा तुम अप्रसन्न हो, पर वह बात नहीं थी। हमेशा प्रसन्न हास्य ही तुम्हारे चेहरे पर दीखता था। मेरे स्वामी को तो अधिकतर काम रहता था और तुम्हारे पति के साथ ही घूमने को मैं लाचार थी। लेकिन तुम्हारे चेहरे पर मैंने कभी मैल नहीं देखा। (इसके बाद की तीन पंक्तियाँ कटी हुई थीं और पढ़ी नहीं जा सकती थीं) शीला, मैं तुम्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देती हूँ। तुमने मेरी आँखें खोल दीं। इस विश्वास के कारण ही शायद तुम्हारी गिरस्ती सुख से भरी है।

कल हम लोगों का काशी जाने का विचार है। उधर से अयोध्या

होते हुए शायद लौटें, तब दिल्ली आना न हो सकेगा। तुम लोगों ने इधर से दिल्ली होकर लौटने का वचन ले लिया था, लेकिन वह सम्भव नहीं है। शीला रानी, और हमें माफ़ करना। बना तो लाहौर से फिर कभी आएँगे। लेकिन तुमने क्या ऐसा संन्यास-व्रत ले लिया है जो कहीं नहीं टलोगी। तुम लाहौर एक बार क्यों नहीं आतीं ?

तुम्हारी
—मालती

: ६ :

दिल्ली
१२ नवम्बर

शीला,

मालती का पत्र फिर मैंने खोल लिया, जो साथ आता है। बीच-बीच की लकीरें मैंने काटी हैं। लेकिन अब मालूम होता है फिजूल काटी हैं। अपने बारे में तुम्हारी अच्छी सम्मति मैं जरूरी समझता था, पर जरूरी अच्छी सम्मति नहीं, स्वयं अच्छाई है, यह में देखता जाता हूँ। मंजुला होटल से अब भी नहीं आई। वह नाराज है। उसे होटल में रखकर तुम्हें घर में क्यों बुलाया गया ? मैं नहीं जानता उसे यह बात किस ने बताई। लेकिन अब यह समझने लगा हूँ कि सच बात अपने को स्वयं बतलाती है। झूठ बात को ही प्रयत्नपूर्वक बतलाना पड़ता है। खैर वह छोड़ो। तुम गईं। मंजुला गई। घर में अब आराम है। नौकर-चाकर हैं, फ़ौरन हुक्म पर काम करते हैं और दख़ल नहीं देते। वे अधीन हैं और घर में मेरी ही इच्छा और मेरा हुक्म सब-कुछ है। पर शीला अब लगता है कि कोई प्रतिरोध चाहिये। कोई चाहिये जो कम है, इससे अधीन

नहीं है। बल्कि जो स्वाधीन है, इससे प्रेम-पूर्वक ही अपने को उसके अधीन करके उसे स्वाधीन करना होगा। प्रेम पुरुषार्थ है, शीला! हम प्रेम के भोग को चाहते हैं उसके अध्यवसाय को नहीं चाहते। प्राणी के साथ सहज है वह तो स्वार्थ है, अहंकार है। प्रेम तो यत्न-साध्य है। शीला, यह मैं नहीं जानता, धीरे-धीरे जान रहा हूँ। अब तो जी होता है कि कह दूँ रुपया नहीं आयगा और चल कर कहूँ कि लो मैं ही आ गया हूँ। लेकिन उतना साहस नहीं है। तुम पर अपने को डाल सकूँगा उसी रोज तुम्हारे निर्णय पर किसी तरह का आरोप लाना चाहूँगा, उससे पहले नहीं। तुम्हारा निर्णय मेरा भाग्य है। रुपया तो पहली तारीख़ को पहुँचेगा ही। जब कहो सब-का-सब भी तुम्हारे हाथों में पहुँच सकता है। वह बात नगण्य है। लेकिन मंजुला का क्या करूँ? रूप है, इससे उसे समझ नहीं है। रूप के गर्व में वह बुद्धि खो बैठी है। इस में उसका क्या दोष है? मैंने ही क्या उसके रूप की क़ीमत उसकी आँखों में नहीं बढ़ाई! ख़ैर, वह जाने दो। इस वक्त घर में मैं एकदम स्वतन्त्र हूँ। और एकदम आराम से हूँ। तुम चिन्ता न करना।

तुम्हारा
—कृपा०

: १० :

दिल्ली
२ दिसम्बर

श्री०

एक तारीख हो गई, रुपया नहीं आया। पर उस कारण नहीं लिख रही हूँ! लेकिन यह क्या सुनती हूँ कि घर में रात में कोई

आता है। और तुम शराब पीने लगे हो। फ़ौरन उत्तर दो कि यह झूठ है, नहीं तो मैं यह नहीं सह सकती। जवाब ज्ञान के हाथ ही दे दें।

शीला

: ११ :

दिल्ली, २ दिसम्बर की शाम

श्री०

ज्ञान खत तुम्हारे वाली मेज़ की दराज़ में रख आया है। तुम मिले नहीं थे। यह डाक से भेजती हूँ। जवाब तुरन्त दो। रुपया आज भी नहीं मिला।

शीला

: १२ :

दिल्ली, २ दिसम्बर

शीला देवी,

रुपया इसी ख़त के साथ है। एक दिन की देर के लिए क्षमा चाहता हूँ। जो सुनो, सच है। लेकिन मैं स्वाधीन हूँ। कोई मेरी चिन्ता क्यों करे? मेरी जिन्दगी मेरे हाथ है। और अगर आपको आपका रुपया वक्त पर मिलता जाता है तो उससे अधिक मैं क्या कर सकता हूँ? मंजुला ने २५०) मासिक की वृत्ति के लिए अदालत में मुझ पर दावा किया है। कल मैं उसीसे मिलने गया था, इससे यहाँ ज्ञान से न मिल सका। २५०) मासिक से अधिक लेने का उसे हक़ था। कह आया हूँ कि यह रकम उसे प्रतिमास मिलेगी। दावा अब वापस हो जायगा।

देखता हूँ रुपया बड़ी चीज़ है। उससे झगड़े शान्त होते हैं और शराब प्राप्त होती है। रुपया है तो चिन्ता क्या ?

कृपा०

: १३ :

दिल्ली, १० दिसम्बर

ख़बर सुनो शीला,

मालती आ रही है। उसे मालूम है कि तुम यहाँ नहीं हो। मालूम है कि मैं अकेला हूँ और दुर्व्यसनी हूँ। पर यह भी मालूम है कि मुझे पैसे की अच्छी आमदनी है। मालती तुम्हारी सहेली है। यहाँ मैं उसके काम को नहीं जानता। वह १२ तारीख को सुबह पहुँच रही है। कहो तुम क्या कहती हो ? शराब क्या अब भी बुरी चीज़ है ?

—कृपा०

: १४ :

दिल्ली, ११ दिसम्बर

शीला,

आज फिर तार आया है। मालती आ रही है। तुम क्या समझती हो ? मुझे इस वक्त तुम कुछ नहीं लिखना चाहती हो ? फिर तुम न कहना शराब पीता हूँ ?

मंजुला आने को तैयार है। वह दो दिन घर रहेगी और मुझे आज़ाद रखेगी। डाँस भी देगी। डाँस वह अच्छा जानती है। फ़ी दिन १००)। मालती का मन रखने को घर पर कोई तो चाहिए। क्यों शीला, क्या कहती हो ?

—कृपा

: १५ :

दिल्ली
१४ दिसम्बर

लो, शीला,

मंजुला गई, मालती गई। तुमने कुछ खबर नहीं ली न? मालती उपदेश देने आई थी। मैंने कहा कि मेरे पास धन है। उपदेश की एवज में धन ही ले जाओ। धन का देना आनन्द देता है। पर उसने धन नहीं लिया फिर भी उपदेश दिया ही। मैंने कहा पर वह तुमसे मिलने को राज़ी नहीं हुई। कहती थी, तुम झेंपोगी। पागल है, वह तुम्हें नहीं जानती। लेकिन शीला शराब को दोष न देना, वह असलीयत बाहर ले आती है। शीला, मुझे माफ़ करना। मालती समझदार है। वह तुम जैसी नहीं है। वह दुनिया में धन की कीमत जानती है। और मंजुला दो रोज़ के बाद तीसरे रोज़ भी रही और हिसाब में १००) उसके भी लगे। शीला, वह मेरी पत्नी है। लेकिन धन बड़ी चीज़ है। अब तुम शराब को कुछ न कह पाओगी, लेकिन तुम तो इधर कुछ कहती ही नहीं हो। चलो अच्छा है। मैं भी नज़दीक आ रहा हूँ कि तुम्हें लिखने के सिलसिले को अपनी तरफ़ से छोड़ दूँ।

तो तुम धर्मशाला में ही रहे जाओगी? घर जो यह पड़ा है। परन्तु तुम जानो। मैं शायद कुछ कहने लायक नहीं हूँ।

तुम्हारा
—कृपा०

: १६ :

दिल्ली
२६ दिसम्बर

लो, शीला,

यह अन्तिम पत्र है। मैं बिस्तर में हूँ। फ़िक्र न करना। नर्स है, डाक्टर है। और सब इन्तज़ाम है। खुद नहीं लिख सकता हूँ। इसीसे तो ख़त लिखाया है। कल बड़ा दिन था। ईसा क्रास पर चढ़े थे। सोचता था, तुम्हारे पास आऊँगा और माफ़ी माँग लूँगा, पर साहस न हो रहा था, तभी मंजुला ने होटल में बुला भेजा। बात संक्षेप में कहूँ। वहाँ से कैसे घर आया मालूम नहीं। होश आया तब डाक्टर को सिर पर देखा। अब ठीक है। चोट ऐसी नहीं है, लेकिन तुम्हें फ़ौरन आ जाना है। मंजुला के पास किसी को होना चाहिए। वह डरती होगी। गाड़ी आ रही है। अधिक मिलने पर—

तुम्हारा
—कृपा०

: १७ :

दिल्ली, ५ जनवरी

प्यारी बहन मालती,

तुम यहाँ आई थीं तब मैं मिली नहीं। तब से तुमने खत भी नहीं लिखा, बड़ी मुँह-चोर हो जी! तुमने क्या यह समझा कि अपना घर मैं नहीं सम्भाल सकती?

सुनो बहन, अपने मन में तुम कुछ न रखना। अख़बारों से तुमने इन्हें चोट आने की ख़बर जानी ही होगी। मंजुला कुसंग में पड़ गई है। लेकिन मन से कोई बुरा नहीं होता और अगर

हम मन में से आदर नहीं खोएँगे तो एक दिन वह फिर इसी घर में आ जायगी। भूत से तो लड़ा नहीं जा सकता। जो होगया उसे मानकर ही चलना होगा। अख़बारों ने बात बढ़ा-चढ़ा कर छापी थी। रुपये-पैसे का झगड़ा होगया था। यह तो रुपये पर हाथ नहीं भींचते, पर गुण्डों के सामने दबना नहीं चाहा होगा। मंजुला ५००) माहवार और १०,०००) नकद चाहती थी। यह राज़ी नहीं हुए। इन्होंने कहा कि मंजुला के लिए उनका प्रेम सच्चा होता तो २५०) भी उसे न देते। पर इतनी दुश्मनी उसके साथ नहीं कर सकते कि ५००) माहवार और १०,०००) दें। रुपये का सवाल नहीं है। पर इसमें मंजुला का ही भला नहीं है। तारीफ़ तो तब है जब मंजुला अपनी तरफ़ से कुछ न चाहे। वह घर में कुछ न चाहे। वह घर में क्यों नहीं रहती। इस पर कुछ कहा-सुनी हो गई होगी और मंजुला और उसके दो साथियों ने इन पर वार किया। मारने की मन्शा होती तो मार सकते थे, पर जख्म करके उन्हें वहीं घर पहुँचा दिया। अब काफ़ी आराम है।

बहिन, स्त्री की कुछ न पूछो। मैंने सोचा था कि डिगूँगी नहीं, पर परमात्मा भला किसकी रखता है और स्त्री तो टूटने के लिए बनी है।

बहिन न टूटने में कोई सुख भी नहीं है। खैर, अब बताओ तुम कब आओगी? इन्हें अच्छा होने दो फिर हम भी तीर्थ-यात्रा पर जाएँगे। चलोगी न हमारे साथ?

तुम्हारी
—शीला

निस्तार

बाबू माताप्रसाद को, हाईकोर्ट की अपील में इलाहाबाद जाते समय उनके पड़ौसी लाला महावीरप्रसाद ने कह दिया था कि वहाँ से पुष्पा को साथ लेते आना, भूलना नहीं।

पुष्पा की बड़ी बहन मनोरमा इलाहाबाद ही रहती है। बहनोई हाईकोर्ट में ट्राँसलेटर है। पुष्पा यूविर्सिटी में बी० ए० में पढ़ती है।

बाबू माताप्रसाद छुटपन से पुष्पा को जानते हैं। उसके विवाह की बातचीत भी उनकी मार्फत चल रही है। लाला महावीरप्रसाद के वह घनिष्ठ मित्र हैं।

इलाहाबाद से चलने की बात थी। उससे कुछ घण्टे पहले पुष्पा उनके घर आ गई, कहने लगी, "मेरा पढ़ने का नुक्सान होगा। कुल पन्द्रह रोज़ की छुट्टियाँ तो हैं, फिर आना पड़ेगा।"

माताप्रसाद ने कहा, "तो आ जाना। तुम्हारी माँ ने बहुत कह दिया है।"

पुष्पा बोली, "नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। फिर कौन पहुँचाने आयगा?"

"शायद मुझे कुछ दिनों में यहाँ आना हो। पहुँचाने का जिम्मा मुझ पर है। चल जल्दी कर। सामान लाई है ?"

"सामान भी नहीं लाई हूँ। मैं क्या करूँगी जाकर ?"

"तेरे पिता ने जरूरी कह दिया था और वहाँ काम भी है।" सकर बोले, "यह आखिरी साल है, हमेशा पढ़े ही थोड़े जायगी !"

माताप्रसाद का कुछ ढंग ही ऐसा था कि पुष्पा का अनमनापन रह गया और दोनों साथ इलाहाबाद से रवाना हुए। किन्तु चलने पर अधिक देर उनका मन स्वस्थ नहीं रहा। उनको शंका घेरने लगी। रेल में धीमे से उन्होंने पूछा, "पुष्पा क्या बात है ?"

"कुछ नहीं !"

सुनकर वह रेल से बाहर देखने लगे। धरती भाग रही थी। किनारे पर पेड़ भी घूम रहे थे। खिड़की की राह वह बाहर ही देखते रहे। पुष्पा किताब पढ़ रही थी।

माताप्रसाद ने कहा, "पुष्पा, पानी देना।"

पुष्पा ने उठकर, सुराही से उँडेल-कर गिलास में पानी दे दिया। वह गौर से उसे देखते रहे। आधा गिलास पानी पीकर गिलास वापिस लौटाते हुए कहा, "लो, रख दो।" फिर उसी तरह गौर से कुछ देर पुष्पा को देखते रहे।

पुष्पा बराबर सीट पर आ बैठी तो वह उसी तरह खिड़की के बाहर देखने लगे। ऐसे कुछ देर बीतने पर उन्होंने बहुत प्यार से और धीमे से पूछा, "कुछ तबियत खराब तो नहीं है ?"

पुष्पा ने उनकी आँखों में निगाह जमा कर कहा, "नहीं तो चाचाजी !"

"अच्छा।"

भारी कण्ठ से यह कहकर वह फिर अपने में हो रहे। पर मन जमता नहीं था। वह इधर-उधर किसी चीज में नहीं रुकता था। ऐसे कानपुर निकल गया। अँधेरा हो रहा था। दूसरी कोई बर्थ खाली न थी। वह चाहते थे, सो जायँ और पुष्पा भी सो जाय। वह अपने ही भीतर की उठी बात को सुनना नहीं चाहते थे।

"लो विस्तर कर लो।"

पुष्पा सुनकर भी बैठी ही रही, तो बोले, "लाओ, मैं ही किये देता हूँ। ज़रा उठो तो।"

पुष्पा उठकर उनके हाथ से होल्डाल लेकर विस्तर बिछाने लगी। माताप्रसाद अलग खड़े हुए उसे गौर से देखने लगे। फिर विस्तर पर बैठकर और उसके भी बैठ जाने पर स्निग्ध कण्ठ से बोले, "पुष्पा, तुम्हें कुछ महीने तो नहीं चढ़े हैं ?"

पुष्पा नीचे देखने लगी। और भी स्निग्ध और भीने कण्ठ से कहा, "घबराओ नहीं, बेटी !"

पुष्पा बेहद धीमे बोली, "हाँ।"

सहसा ठहर, फिर पूछा, "कितने ?"

धोती माथे के आगे लाकर पुष्पा ने कहा, "शायद चार।"

माताप्रसाद सुनकर चुप रह गए। थोड़ी देर बाद बोले, "तो यह क्या कर रही हो ? माता-पिता पर जाहिर होना चाहती हो ?"

"क्या करूँ ? न जाऊँ ?"

माताप्रसाद फिर सोचते रह गए।

उन्हें चुप देखकर पुष्पा बोली, "अगले स्टेशन से वापस लौट जाऊँ ?"

माताप्रसाद को इसका कुछ भी उत्तर नहीं सूझा।

"सोचती थी, दो रोज उनकी आँखों के आगे रह आती।"

माताप्रसाद अब भी नहीं बोले।

"उन्हें पता नहीं चलेगा। चल जायगा तो?"

सुनकर उन्होंने पुष्पा को देखा। माथा और आँखें धोती की किनारी की ओट में हैं। ऊपर पैर लेकर हाथ से अँगूठे का नाखून खुरच रही है।

पूछा, "लौटना चाहती हो?"

"कहें तो अगले स्टेशन उतर जाऊँ।"

"अकेली जा सकोगी?"

"जा सकूँगी।"

मातप्रसाद चुप रह गए।

काफी देर तक उन्हें चुप देखकर पूछा, "तो अगले स्टेशन मुझे उतर जाना है?"

मातप्रसाद निरुत्तर रहे। उनकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। अच्छा तो यही हो कि माता-पिता जान जायँ, लेकिन इसके लिए उन्हें तैयार करना जरूरी है। यों तो लड़की की जान की खैर नहीं। फिर माँ जाने क्या कर बैठे। कुछ तय न कर पाते थे। इससे खीझ उठती थी। पर उसका अवसर न था। रेल का डब्बा था और यों भी कहने-सुनने की जगह से समस्या आगे आ गई थी।

देखा, पुष्पा छोटी-मोटी चीजों को समेट कर बैग में रख रही है।

सहसा उसने पूछा, "आप भी उतरेंगे?"

चौंक कर बोले, "मैं?"

"कहें तो मैं अकेली उतर जाऊँ?"

जवाब अकस्मात् उनसे नहीं बना। उन्हें गुस्सा आ रहा था। पर किसी तरह भी झुँझलाहट का तनिक अंश भी वह प्रकट नहीं कर पाते थे। झटके से बोले, "चलो, इटावे में दूसरी गाड़ी ले लेंगे। पहले उतर कर तुम्हीं से निबट लें।"

इटावे में वह भी साथ उतरे। वेटिंग रूम में रात गुजारनी होगी, सवेरे आठ बजे गाड़ी मिलेगी। मुझे आज ही मेरठ पहुँचना था। कचहरी में केस है। आदि-आदि सोचकर पुष्पा पर रह-रहकर उन्हें तैश आता था। बोले, "अब बताओ, क्या करना चाहती हो?"

पुष्पा चारों ओर से पूरी तरह धोती लपेटे, पल्ला आगे ले, नीचे देखती हुई, गुमसुम बैठी रही। बोली नहीं।

माताप्रसाद के मन में तरह-तरह की बातें उठीं। बहुत-से दुर्वचन, बहुत-से व्यंग्य। पर कोई भी तीखी बात इस सामने बैठी लड़की से वह नहीं कह सके, और स्वयं में झुलसते रह गए।

"बताओ जी, तुम फिर क्या कहती हो?"

पुष्पा ने धीमी वाणी में कहा, "मैं रेल के नीचे कट सकती हूँ।"

सुनकर माताप्रसाद के मन में आया कि कहे कि रेल के नीचे मरने का वक्त तो पहले था, लड़की! अब तो तू उस वक्त को भी गँवा चुकी है। लेकिन वह कुछ भी नहीं कह पाए। कुछ न सूझा तो बोले, "नहीं, मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकता हूँ।"

पुष्पा बोली, "और मैं भी इलाहाबाद वापस कैसे जा सकती हूँ, चाचाजी?"

"क्यों? तो फिर कहाँ जाओगी?"

"कहीं नहीं जाऊँगी। अपना अन्त तो कर ही सकती हूँ।"

"क्यों ? मनोरमा के पास नहीं जा सकती ? वह जानती तो होगी ?"

"नहीं, कोई नहीं जानता। और जिसे जानना चाहिए वह इस बारे में सोचना नहीं चाहता।"

कुछ उकता कर माताप्रसाद ने कहा, "मुझसे पूछो तो तुम्हें उसी के पास जाना चाहिए। वह है कौन ?"

पुष्पा ने अब ऊपर की ओर देखा, आँखें भरी थीं, कहा, "वह बचना चाहते हैं, चाचाजी ! हम सबको उन्हें बचाना चाहिए।"

"क्यों बचाना चाहिए ?"

"दया धर्म बताया है, चाचा जी।"

माताप्रसाद को बहुत बुरा लगा। धमकाते-से बोले, "तो तू क्या करेगी ?"

"मरूँगी नहीं, तो जिस-तिस तरह जी लूँगी।"

और भी कड़वे होकर वह बोले, "बदनसीब, मेरठ के लिए ऐसी हालत में तू मेरे साथ क्यों चली आई ? लाज नहीं आई ?"

पुष्पा रो पड़ी। बोली, "कुछ नहीं आया, चाचा जी कुछ भी समझ में नहीं आया। अब कहो, वह करूँ !"

माताप्रसाद उधेड़-बुन में इस वक्त टहल रहे थे। ऐसी हालत उनकी कभी नहीं हुई। क्या झमेला है। इस लड़की ने मुसीबत में डाल दिया है। बोले, "तुमने मुझे इलाहाबाद में सब-कुछ क्यों नहीं कहा ?"

"मैंने तो कहीं भी कुछ नहीं कहा, आप ही न कहलाते तो मैं क्या किसी भी तरह कह सकती थी ?"

"तो फिर चलो मेरठ। झगड़ा क्या है ? किये का फल भुगतो।"

"उसके लिए तो मैं तैयार हूँ, लेकिन माँ-बाप के यहाँ जन्मी इसी से क्या उनको भी मेरे किये का दण्ड भोगना होगा ? मैं यह नहीं होने दूँगी। इस उमर में उनकी इज्जत पर बट्टा लगे, इससे पहले मुझे लाख-लाख बार मरना मंजूर है।"

"तो फिर ऐसी हिम्मत से मेरठ के लिए मेरे साथ चल क्यों पड़ी थी ?"

"सोचती थी, कोई जानेगा नहीं। और उन्हें अपना मुँह दिखा कर और अंतिम बार उनके दर्शन कर पीछे जो बने मैं अपना निपटारा कर लेना चाहती थी। उसके बाद जीती भी बचती तो उनका रास्ता न काटती। पर मेरा नसीब जो फूटा है। रास्ते में आपने ही सब जान लिया। अब आगे मुझसे पैर कैसे दिया जायगा ?"

माताप्रसाद सुनते हुए बराबर कमरे में टहलते ही रहे। एकाएक गुस्से में बोले, "यह कब से चल रहा था ?"

पुष्पा ने उधर ध्यान नहीं दिया। कहती रही, "शायद सब भले के लिए होता है। इन थोड़े दिनों में जो मैंने जाना, वह किसी भी दूसरी तरह नहीं जान सकती थी। अब मुझे कोई भी साध नहीं है। मैं सहज-भाव से मर सकती हूँ। गुस्सा भी मुझे नहीं है। दोष भी किसी को कैसे दे सकती हूँ ! उसका भी कैसे बुरा चाह सकती हूँ। जो लाचार है, और अब नहीं निभा सकता। मैं माँ-बाप के समक्ष जाकर चरण छूकर मन-ही-मन उनकी क्षमा पा लेना चाहती थी। पर अब वह नहीं हो सकता तो भाग्य को भी दोष नहीं दूँगी। विपत न पड़े तो आँखें हमारी कैसे खुलें ? मैं पढ़ती थी और जानती थी कि पाप कहीं भी नहीं है। लेकिन अब जाना कि हम जैसों को पाप न हो तो प्राप्त भी कुछ न हो। आज तो मैं

पाप में विश्वास रखती हूँ। उसने मुझे सिखाया। वह किसी तरह भी ग्रन्थों से मुझे न आता। दुःख में से सान्त्वना मिलती है। पाप में से धर्म मिलता है। वह भी शायद ठीक हुआ न कि आप आज आ गए। मरना केवल मैं इसीलिए चाहती हूँ कि जिन्हें मुझ से प्यार था और आशा थी उन्हें मुझ से ग्लानि और निराशा का दुःख न मिले, मैं—"

माताप्रसाद अपने से झगड़ते हुए टहले जा रहे थे। आधा उन्हें सुन पड़ता था आधा नहीं सुन पड़ता था। पर समझकर सुनने या सुनकर समझने की उन्हें चिन्ता न थी। सहसा घूमकर बोले, "क्या बकती हो ?"

पुष्पा बोली, "माता-पिता से आप कुछ भी कहानी कह दीजिए। पर आप विश्वास मानिए कि कोई अभाव-अभियोग लेकर मैं नहीं जाऊँगी।"

जैसे कुछ न सुना हो, जोर से बोले, "कहाँ जाने की बात कर रही हो ?"

पुष्पा को मानो उन पर करुणा हुई, बोली, "कहीं भी नहीं।"

"क्यों, मरोगी ?"

पुष्पा उनकी ओर देखती रह गई।

बोले, "मरना बुरा नहीं है। इससे पहले ही मर जाती तो अच्छा होता।"

पुष्पा इस समय सचमुच इस स्नेही वृद्ध-जन के प्रति दयार्द्र हो आई। वह बोली नहीं।

माताप्रसाद कहते रहे, "आज की औलाद को जाने क्या हो गया है ? माँ-बाप उनके लिए जीते हैं, उनके लिए पिसते, कमाते

और इज्जत बनाते हैं। लेकिन ये हैं कि—अरे, मरना था तो मर क्यों नहीं गई?"

पुष्पा देख सकी कि उनका दुःख किसी भी तरह उसके निज के दुःख से कम नहीं है। बल्कि वह कुछ अधिक ही कष्टकर है, क्योंकि मृत्यु में उसका उपाय नहीं है। मैं तो मरने की सोचकर छुटकारा पा जाती हूँ, इनको वह राह भी नहीं है। इसलिए डबडबाई आँखों से वह उन्हें देखती रह गई। उत्तर में कुछ कहने की हिम्मत उसे न हुई। माताप्रसाद मानो चीखकर बोले, "नहीं मर सकी तो तुम उस लायक नहीं हो। अब वह बात न करना। चलो, मेरठ चलो।"

"मेरठ?"

"हाँ! तुम्हारे माता-पिता ही वहाँ नहीं रहते और बहुत रहते हैं।"

पुष्पा कृतज्ञ आश्चर्य से क्षण-भर उन्हें ताकती रही। फिर बोलना चाहा—

लेकिन तभी मानो डपटकर माताप्रसाद ने कहा, "बस हुआ, अब सोओ। मालूम है क्या बजा है? दो होगा।......सबेरे चलना भी है। सुना नहीं......बिस्तर खोलो और सो जाओ।"

पुष्पा सुनकर वहीं बैठी रह गई और माताप्रसाद कहकर स्वयं टहलने लग गए। एकाएक मुड़कर उसे वहीं बैठा देखकर डाँटकर बोले, "सुना नहीं? क्या तुम बहरी हो? बिस्तर खोलो और सो जाओ।" तत्काल पुष्पा को उठता हुआ न देखकर कड़ककर कहा, "उठो।"

जैसे वज्र कड़क गया। पुष्पा को न चेत रहा कि वह बीस वर्ष की है। मानो पाँच बरस की ही वह अब भी हो। खुद में कुछ

न हो। आदेश-पालन के लिए बस पात्र हो। उस आवाज पर एकदम सहमकर वह जैसा कहा, करने लगी।

सोफा पर बिस्तर बिछा लिया और लेट गई।

माताप्रसाद बिना उधर ध्यान किए टहलते रहे। सहसा रुककर बोले, "पुष्पा अपने दिलीप को तो तू जानती है न? पी० सी० एस० में आ गया है। उसकी सगाई मैं तोड़ सकता हूँ। क्यों, सो गई?"

पुष्पा आँख फाड़े छत देख रही थी। बहुत भीतर की तह फोड़कर उसकी आँखों में आँसू भरे आ रहे थे। पर वह बोली नहीं। इस तरह पड़े-पड़े जाने पुष्पा को कब नींद आ गई। सबेरे जागी, तो आराम-कुर्सी पर माताप्रसाद भी सो रहे थे।

◆

ब्याह

बड़े भाई के बाद, अब घर का बोझ मुझ पर पड़ा। घर का तन्त्र भी मेरे हाथ में आया। लेकिन मुझे इसमें कुछ दिक़्क़त नहीं हुई। सेशन-जज हूँ, सात सौ पाता हूँ, और घर में मुक़ाबले को कोई नहीं है। माँ सेवा और आज्ञानुसरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानतीं, और पत्नी जितनी ही कम शिक्षिता है, उतनी ही ज्यादा पतिपरायणा हैं।

किन्तु भाई-साहब, अपने अन्तिम समय, जिसे खास तौर से बोझ जतला कर मुझे सौंप गए, मेरे ऊपर छोड़ गए उसके सम्बन्ध में मुझे अवश्य सतर्क और चिन्तित रहना पड़ता है। ललिता मैट्रिक के साथ अपना सोलहवाँ साल पार कर चुकी है। भाई-साहब अपने जीवन काल में इसे जहाँ तक हो वहाँ तक पढ़ाना चाहते थे। शायद कारण यह हो कि वह खुद बहुत कम पढ़े थे। किन्तु आखिरी क्षण, आश्चर्य है, उन्होंने ललिता की शिक्षा के बारे में तो कुछ हिदायत न दी, कहा कि देखो, ललिता का ब्याह जल्दी कर देना। मेरी बात टालना मत, भूलना मत।

अब भाई-साहब की अनुपस्थिति में, ललिता को देखते ही, ये शब्द बड़ी बेचैनी के साथ मानो भीतर विद्रोह मचा उठते हैं। मैं उन्हें भीतर-ही-भीतर खूब उलटता-पलटता हूँ, सोचना चाहता हूँ, "यह क्यों कहा गया ?—और मेरा क्या कर्त्तव्य है ?"

ललिता को बड़ी जिज्ञासा, अन्वेषण, अनुवीक्षण और बड़ी चिन्ता और फैसला देने के भाव से देखता हूँ। शायद उन शब्दों का ललिता के व्यक्तित्व से कोई सामंजस्य हो। फिर रह-रहकर ध्यान होता है, मुमकिन हो सकता है, भाई-साहब ने समझा हो मैं ललिता को ठीक प्यार, सम्भाल और अपनेपन के साथ नहीं रख पाऊँगा, और तभी ऐसा कहा हो! जब यह बात उठती है, तो भाई-साहब पर बड़ा गुस्सा आता है। उन्होंने मुझे बे-भरोसे का आदमी समझा!—जैसे मैं उनका सगा, उन्हीं का पाला, बढ़ाया और पढ़ाया नहीं हूँ!—जैसे मैं बिल्कुल जानवर हूँ!

ऐसी ही सब बातें सोचकर मैं ललिता के ब्याह के बारे में व्यग्र और उद्विग्न हो उठना नहीं चाहता। फिर सोचता हूँ, भाई-साहब की मंशा पूरा करने का काम अब मुझपर आ पड़ा है,—ललिता को खूब पढ़ाऊँगा और फिर खूब धूमसे विवाह करूँगा। दिया लेकर ऐसा लड़का ढूँढूँगा जो दुनिया में एक हो। लड़के को खोजने में मैं खूब वक्त और खूब श्रम लगाना चाहता हूँ। ललिता हमारी ऐसी जगह जायगी कि भैया भी स्वर्ग में खुशी से फूल उठें!—पर जल्दी नहीं।

इस तरह लड़की का पढ़ना जारी है। बी० ए० में पहुँचेगी, तब कहीं ब्याह की सोचूँगा।

: २ :

यह ललिता भी हमारे घरमें अजीब ही लड़की है। कुछ पार

ही नहीं मिलता। कुछ समझ ही नहीं पड़ती। जाने कैसे फर्स्ट क्लासमें मैट्रिक पास कर गई। पता नहीं पड़ता, जब पढ़ने में इतनी होशियार है तो व्यवहार में क्यों ऐसी अल्हड़ है! उसे किसी बात को समझ ही नहीं है। लोग कुछ कहें, कुछ समझें,—जो समाया उसे वह कर ही गुजरती है। नौकर हो सामने, और चाहे अतिथि बैठे हों,—उसे जोर की हँसी आती है, तो वह कभी उसे न रोक सकेगी। गुस्सा उठेगा तो उसे भी बेरोक निकाल बाहर करेगी। सबके सामने, बे-हिचक, मुझ चाचा को चूमकर प्यार कर डालती है, और मेरी ही तनक-सी बात पर ऐसी तनक पड़ती है कि बस! हँसती तो वह खूब ही है, गुस्सा तो उसका आठवाँ हिस्सा भी नहीं करती होगी; हाँ, जब करती है तो कर ही देती है, फिर चाहे कुछ हो, कोई हो!

मैं चाहता हूँ, उसे कुल-शील का, सभ्यता-शिष्टता का, अदब-कायदे का, छोटे-बड़े का, व्यवहार में सदा ध्यान रखना चाहिए। पर उससे इन सब बातों पर निबन्ध मुझसे अच्छा लिखवा लो, ध्यान नहीं रखवा सकते। नौकरों से अपनापा जोड़ेगी, हमसे, जैसे, बची-बची रहेगी; सहपाठियों और अँग्रेजीदाओं से हिन्दी के सिवा और कुछ न बोल सकेगी; नौकरों और देहातियों के साथ अँग्रेजी बोलेगी। नौकरों को तो कभी-कभी अँग्रेजी के पाँच-पाँच मिनट तक के लेक्चर सुना देती है, जैसे मानों दुनिया में ये ही उसकी बात का मर्म समझने-वाले मिले हैं। समकक्षियों और बड़ों में धीर-गम्भीर और गुम-सुम रहती है, जैसे सिर में विचार-ही-विचार हैं, जुबान नहीं; छोटों में ऐसी खिली-खिली और चहकती फिरती है कि जैसे इसका सिर खाली है, चलाने को बस जुबान ही है।

मिसरानी को बड़ा ही तंग करती है। पर मुश्किल यह है कि

मिसरानी को इस बात की बिल्कुल शिकायत नहीं है; और इस कारण मेरे पास डपटने को पूरा मौका नहीं है। पर ललिता बे-जरूरत चौके में पहुँच जाती है; कभी उँगली जलाती है; कभी नोन अपने हाथ से डालने की जिद करके दाल को कड़वी बना देती है, आटा उसनते-उसनते जब बहा-बहा फिरने लायक हो जाता है, तो मिसरानीजी से साहाय्य की प्रार्थना करती है, और मिसरानी उसके दायें कान को, हँसते-हँसते, अपने बायें हाथसे ज़रा टेढ़ा-तिरछा करके, आटा ठीक कर देती है। मालकिन के मुलायम कानों को मसलने का जब अधिकार-संयोग मिले, तो उस अवसर को मिसरानी जान-बूझ कर क्यों खोये? उसे दिक होना पड़ता है तो हो।

लेकिन मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता। जैसे जहाँ जायगी वहाँ इसे ही रोटी बनानी पड़ेगी! फिर क्यों फ़िजूल ऐसे कामों में हाथ डालती है?—यह तो है नहीं कि टेनिस की अपनी प्रेक्टिस बढ़ा ले, शायद उसमें चमक उठे, और अख़बारों में नाम हो जाय। इसलिए मैं उसे काफी गुरु-मुद्रा के साथ धमका देता हूँ, "ललिता, यह क्या यहाँ-वहाँ उलझती-फिरती हो। वहाँ मिसरानी के पास निठल्ली वक्त गँवाती हो, कुछ पढ़ो-लिखो तो नफ़ा ही हो। ललिता, मैं कहता हूँ छोटे लोगों की नहीं, बड़ों की सोहबत कर।—वह डिक अभी आया था, मैंने कह दिया तुम गई हो। यह शकल देखता तो क्या कहता! कैसे धुएँ ने आँखों से पानी निकाल-निकाल कर, आँखों को लाल कर दिया है और उस पानी ने धुएँ से सन कर सारे चेहरे को कैसा चिपकना-बुरा बना रक्खा है। ललिता, मैं कहता हूँ य' ठीक नहीं।"

इसका जवाब ललिता ने जो दिया, अगर वह मेरी निज की

लड़की देती, तो मैं बरदाश्त न कर सकता; पर ललिता के मुँह से सुनकर न बहुत ज्याद' गुस्सा हुआ, न बहुत अचरज। गुस्सा होता भी तो मैं कुछ ज्यादा न कर सकता था। मेरे समीप वह भाई साहब की स्मृति थी, उनकी प्रतिमूर्ति थी; मेरे समीप वह रक्षा से, बहला-बहला कर, स्नेह-पोष्य वस्तु थी। इसलिए मैं उसका जवाब सुनकर चुप रह गया, और उसे उसके मार्ग से न हिला सका। मुझे विश्वास है, चुप न रहकर चाहे और कुछ भी क्यों न करता, उसे उस मार्ग से न हिला सकता। जवाब में उसने कहा था—

"चाचाजी, डिक सफेद आदमी है। मैं काली हूँ चाचाजी! आप भी भूलिए मत, आप भी काले हैं। क्या हम कालों को सफेदों की खुशी-ना-खुशी ढूँढने के सिवा और कुछ काम नहीं? हम ही ऐसे हैं, जो उनके ओठों के और भौहों के जरा वक्र होने पर या तो अतिशय धन्य होकर, या फिर पैरों में पड़कर, मर जाना चाहते हैं! लेकिन मैं ऐसी नहीं रहना चाहती। और यह हम लोगों की बान नहीं है कि होटल की डबल रोटी खायँ, और चौके से घिन करें। मुझे तो अपने चौके की रोटी ही अच्छी, और मैं चौके से अपना पिण्ड छुड़ाना नहीं चाहती।"

यह लड़की जो जरा दुनिया नहीं समझती, जो समझती है उसकी कोर्स की किताबों में और कल्पना-क्षेत्र में उड़ते-हुए उसके छोटे-से दिमाग में ही दुनिया बन्द है, उससे बहस में कौन पड़े! समझती ही नहीं, तो करे अपने जी की; पर डिक—

डिक हमारे जिले के डिप्टी-कमिश्नर का लड़का है। अभी एक वर्ष से विलायत से आया है। आक्सफोर्ड में पढ़ता है। पर पिता ने हिन्दुस्तान देखने के लिए बुला भेजा है। पिता की राय है, डिक आई० सी० एस० में जाय।

बड़ा अच्छा है—डिक। घमण्ड उसमें नाम को नहीं। बड़ा मृदुभाषी, सुशील, शिष्ट। ज़रा आप उसे जानें कि फिर ऐसे मिलता है कि वह आपका ही है। ललिता को जान कर उसने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। ललिता की बड़ी तारीफ़ करता है।

पर मुझे कुछ और लगता है, मुझे कुछ और आशा है। डिक हर लिहाज़ से मुझे बहुत सुन्दर जँचता है। पर मैं उसे और-और देखता हूँ, और वह और-और अच्छा लगता है। मैं सोचता हूँ...। बात बहुत सुन्दर है। डिक की ओर से पूरी सम्भावना है। लेकिन...

लेकिन ललिता तो डिक को सदा कन्ने ही देती है। यह नहीं कि उससे बोलती नहीं, मौके पर खूब बोलती है। पर मानो उन बातों को बीच में डालकर ही ललिता अपने और डिक के फासले को अनुल्लंघनीय बना देती है। यह मैं डिक से सुनकर सब जानता हूँ, और यह भी जानता हूँ, कि डिक इस अन्तर को जितना ही अनुल्लंघनीय पाता है उतना ही देखता है कि एक अनिश्चित चाह उसे मानो और विवशता से चाबुक मार-मारकर भड़का रही है।

: ३ :

इधर ललिता में एक अन्तर देख पड़ने लगा। हँसना एकदम सूक्ष्म हो गया है, और हठात् वक्त-बेवक्त पढ़ना शुरू हो गया है। अब वह बहुत पढ़ती है। मानो जी उचाट रहता है, और उसी को जबरदस्ती लगाये रखने के लिए ये सब प्रयत्न और प्रपञ्च किये जाते हों।

इधर एक खबर डिक के बारे में भी लगी है। कुछ दिनों से उसका इधर आना कम हो गया है। अब अचानक पता चला कि

उसने एक हिन्दी ट्यूटर लगा लिया है और हिन्दी-प्रवेशिका के पहले भाग को ख़तम कर डालने में दत्तचित्त है।

ये लक्षण बड़े शुभ मालूम होते हैं। मालूम होता है, दोनों में कुछ खटपट हो गई है। नज़दीक लाने में इन छोटी-छोटी कलहों से अचूक और अमोघ चीज़ कोई नहीं। मालूम होता है, ललिता ने एक झिड़की से डिक को ठीक मार्ग दिखा दिया है। और डिक अब उसी मार्ग पर चलने की तैयारी कर रहा है।

इतना सब-कुछ समझने पर भी ललिता की ओर से मुझे खटका ही रहता है। मालूम नहीं, वह किस लोक में रहती है, किस प्रणाली से सोचती है। उसके जी का भेद मैं नहीं समझ पाता।

मालूम होता है, अब उसका जी ऐसी हालत में पहुँच गया है, जहाँ उसे थपक-थपककर सुलाए रखने की जरूरत होती है, जहाँ उसे सबकी जिज्ञासु-दृष्टियों से छिपाकर रखना पड़ता है, जहाँ उससे खुद-ही-खुद निबट लेना होता है।

मैं अदालत करके आया हूँ, कपड़े पूरे उतार नहीं पाया कि ललिता ने, बेधड़क मेरे कमरे में आकर, अपनी मेज़ की शिकायत न जाने कौन-वीं बार दोहराई।

"चाचाजी, मैंने कितनी बार आपसे मेज ठीक करवा देने के लिए कहा है !—यह क्या बात है ?"

मैं मानता हूँ, मुझे कई बार कहा गया है। मैंने फिर भी कहा, "अच्छा, अच्छा, अब करवा दूँगा।"

"कब से अच्छा-अच्छा ही हो रहा है। अभी करवा के दीजिए।"

"अभी ?—अच्छा, अभी सही।"

"सही-वही नहीं। मैं अभी करवा लूँगी। आप तो यों ही टालते रहते हैं।"

"अब नहीं टालूँगा। बस।"

"नहीं—"

"अभी, मिस्त्री काम से लौटे होंगे। अभी कौन मिलेगा ?"

"मिस्त्री दस मिल जाएँगे।...मिल जाय, तो मैं लगा लूँ ?"

"हाँ-हाँ; लगा लो।"

यह कहकर उसे टाला, कपड़े उतारे, हाथ-मुँह धोया, और अख़बार लेकर ईज़ी-चेयर पर पड़ गया।

कुछ देर बाद खुट-खुट कानों में पड़ी। "नेशन" के अग्रलेख का तर्क मुझे ठीक नहीं लग रहा था, उसे पढ़ते-पढ़ते ऊँघ-सी भी आने लगी थी, तभी यह खुट-खुट सुनकर मैं अन्दर पहुँचा।

"यह क्या है, ललित ?" कहता मैं ललिता के कमरे में दाखिल हुआ कि देखता हूँ एक बढ़ई काम में लग रहा है।

"आपने कहा था न कि मिस्त्री लगा लेना ?"

कहा था तो कहा होगा, पर मुझे उसकी कोई विशेष याद नहीं थी।

"तो तुम लपककर उसे बुला भी लाई ? गोया तैयार ही बैठा रखा था।"

"नहीं। बाहर जाता दीख गया, मैंने बुला लिया।"

"दिनभर काम करके लौट रहा होगा, सो तुमने बुला लिया ! मजदूर बेचारे पर कोई भी दया नहीं करता,—तुम्हारा क्या ?"

"कोई बेगार थोड़े ही है।" ललिता ने कहा, "उजरत भी तो दी जायगी। य' तो इसमें खुश ही होगा।" और मुड़कर मिस्त्री से पूछा "क्यों,—बाबा ?"

मिस्त्री बुड्ढा है। सिक्ख है। बड़ी लम्बी सफ़ेद दाढ़ी है, सफ़ेद ही साफ़ा है, आँखों में स्नेह और दीनता का रस है। ललिता के प्रश्न को सुनकर उसने ऐसे देखा जैसे मानो उसकी आँखों में की दीनता और स्नेह एकदम छलक आया है।—'बाबा !'—मानो इस ललिता के मुँह के सम्बोधन की मृदुता ने उसके प्राणों में सुख की एक सिहरन लहरा दी। उसने कहा—

"नहीं बेटी, मुझे सबेरे से कोई काम नहीं मिला। मेरा घर यहाँ नहीं है। बहुत दूर है—बहुत दूर। पेशावर तुमने सुना होगा, उसके पास अटक है, अटक के पास मेरा घर है। दरिया सिन्ध उसको छूकर बहता है। मैं यहाँ आज ही आया हूँ। काम न मिलता तो न जाने मेरा क्या होता !"

दरिया सिन्ध के किनारे वाले हिन्दुस्तान के छोर पर के गाँव से यह बुड्ढा सिक्ख नर्मदा के किनारे के, हिन्दुस्तान के बीचों-बीच बसे हुए, उस होशङ्गाबाद में इस प्रकार बे-पैसे किस आफ़त का मारा आ पहुँचा—सो सब जानना मुझे आवश्यक न जान पड़ा। पर ललिता ने कुरेदकर उसकी कहानी पूछी। मैंने भी सुनी।

जब वह बुड्ढा नहीं था, जवान था,—तब की बात है। दरिया में बाढ़ आगई। झोंपड़ा बह गया, खेत डूब गये। वह, उसकी घर-वाली और उसका एक छोटा लड़का—इन तीनों ने एक दूर गाँव में जाकर आसरा लिया। पर खाएँ कहाँ से ? जो थोड़ा-बहुत नक़द बाढ़ के मुँह में से बचाकर ले आ सके थे, उसे ही बैठे कब तक खाएँ ? ऐसे ही चिन्ता के वक्त उन्हें एक तरकीब सुझाई गई। मद्रास

वह चला जाय, तो वहाँ बहुत आदमियों की जरूरत है, खूब तनख्वाह मिलती है, और भी सब सहूलियत हैं, खूब आराम है। थोड़े ही दिनों में मालामाल होकर लौट आ सकेगा। मद्रास पहुँचा, वहाँ से फ़िजी। घर से निकलने पर यह उसके बस का अब न रह गया था कि वह फ़िजी न जाय। तब फ़िजीं न जाता तो शायद जेल जाना पड़ जाता; और क्या ताज्जुब जो जान से ही हाथ धो बैठने का मौक़ा आ जाता। फ़िजी में हाड़ को और जान को पेलकर काम किया। पीछे से वहाँ कमाने का मौक़ा हो सकता था, पर बच्चे की और घरवाली की याद ने वहाँ रहने न दिया। जहाज़ के टिकट लायक पैसा हुआ कि वह चल दिया। मद्रास आया। इन आरी और वसूलों से ही उसने मद्रास में एक महीने तक अपना पेट भरा और इनसे ही एक महीने में बम्बई तक का किराया जुटाया। बम्बई में वह जैसे-तैसे पेट तो भर सका, पर लाख कम खाने और हज़ार ज्यादा काम करने पर भी वह ऊपर से कुछ जुटा न सका। आखिर लाचार बेटिकट चल दिया। यहाँ होशंगाबाद में टिकट वाले ने उतार दिया। वहीं से वह अपने औज़ार सम्भाले चला आ रहा था। बहुत समझो, उसकी यह पूँजी रेल-वालों ने छोड़ दी।

कहानी सुनकर मुझे बुड्ढे पर रहम करने को जी चाहा। पूछा—

"ललित, इसे कितने में ठहराया था?"

"ठहराया तो कुछ नहीं ...?"

"ठहराया नहीं?"

"नहीं..."

"अच्छा, जो ठहरातीं उससे एक आना ज्यादा देना।"

"अच्छा. . ." और मुझसे सिर्फ़ यह जरा-सा 'अच्छा' कहकर सिक्ख से उसने पूछा, "वावा, तुम यहाँ रहोगे ?"

"ना बेटी।"

"क्यों, बावा ?"

"घर तो अपना वहीं है। घर क्या छोड़ा जाता है ? फिर बच्चे को कब से नहीं देखा। बीस साल हो गये।"

"वावा, क्या पता, वह मिलेगा ही। बीस बरस थोड़े नहीं होते।"

"हाँ, क्या पता ! पर मैंने अपने हिस्से की काफ़ी आफ़त भुगत ली है, परमात्मा अब इस बुड्ढे से उसका बचा-खुचा सब-कुछ नहीं छीन लेंगे। मुझे भरोसा है, वह मुझे जरूर मिलेगा।. . .हाँ, उसकी माँ तो शायद ही मिले।"

ललिता के ढंग से जान पड़ा, वह इतनी थोड़ी-सी बातें करके सन्तुष्ट नहीं है। वह इस बुड्ढे से और बातें करना चाहती है। पर मुझे तो समय वृथा नहीं गवाँना। में फिर एक आना ज्यादे देने की हिदायत देकर चला आ आया।

: ४ :

वह बुड्ढा तो धीरे-धीरे मेरे घर से हिलने लगा। ज्यादातर घर पर ही दीखता है। किसी-न-किसी चीज़ को ठीक करता रहता। उसने घर के सारे बक्सों को पालिश से चमका कर नया कर दिया। नई-नई चीजें भी बहुत-सी बना दीं। वह ललिता का विशेष कृपापात्र था, और ललिता उसकी विशेष कृतज्ञता-पात्र थी। उसने एक बड़ा सुन्दर सिंगारदान ललिता को बनाकर दिया, एक कैश-बक्स। मेरे लिए हैट-स्टैण्ड, खूँटियाँ, वगैरह-वगैरह चीजें

बनाकर दीं। मैंने भी समझा, वह अपने लिए इस तरह ख्वाहम-ख्वाह मजदूरी बढ़ा लेता है, चलो, इसमें गरीब का भला ही है।

लेकिन हर-एक चीज़ की हद होनी चाहिए। गरीब की भलाई की जहाँ तक बात है वहाँ तक तो ठीक। पर उनसे दोस्ती-सी कर लेना, उनको अपना ही बना बैठना, यह भी कोई बुद्धिमानी है! पर अल्हड़ ललिता यह कुछ नहीं समझती। उसका तो ज्यादे समय अब उस बुड्ढे से ही छोटी-मोटी चीजें बनवाते-रहने में और उससे बातें करते-रहने में बीतता है।

मैं यह भी देखता हूँ कि बुड्ढा दीनता के अतिरिक्त और उम्र के अतिरिक्त, और किसी बात में बुड्ढा नहीं है। बदन में खूब हट्टा-कट्टा है, लम्बा-चौड़ा है। दाढ़ी-मूछों से भरा हुआ उसका चेहरा एक प्रकार की शक्ति से भी भरा है। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। इसलिए मैंने उसे एक दिन बुलाकर कहा—

"बुड्ढे, अब गाँव कब जाओगे?"

"गाँव?...कैसे जाऊँगा जी, गाँव?"

"क्यों!..."

"जी..."

"देखो, थोड़ी-बहुत मदद की ज़रूरत हो, मैं कर दूँगा। पर तुम्हें अब अपने बच्चे के पास जाना चाहिए। और...और यहाँ जब काम होगा, बुला लूँगा, तुम्हारा फिजूल आना-जाना ठीक नहीं।"

बुड्ढा इस पर कुछ न बोला, मानो, उसे स्वीकार है। उसके बाद से वह घर पर बहुत कम दीखा। एक बार आया, तो मैंने जवाब तलब किया—"बुड्ढे, क्यों आये?—क्या काम है?"

"जी, बिटिया ने बुलवाया था।"

ललिता को अब यह बिटिया कहेगा! इतना बढ़ने देना ठीक नहीं। मैंने जोर से कहा, "बिटिया?—कौन बिटिया?"

"वही आपकी..."

"देखो, बुड्ढे, गुस्ताख़ी अच्छी नहीं होती।"

इसपर बुड्ढा बहुत-कुछ गिड़गिड़ाया, 'गुस्ताखी नहीं,' 'गुस्ताखी नहीं,' और उसने बहुत-सी शपथें खाकर विश्वास दिलाया, वह कभी अपने को हमारी बराबर नहीं समझता; 'आप तो राजा हो, हम तो किंकर हैं, नाचीज़ हैं,' और 'वह तो मालकिन है, साक्षात् राजरानी है,'···आदि आदि;—और अन्त में धरती पर माथा टेक कर चला गया।

बुड्ढे की ओर से मुझे निश्चिन्तता मिली। पर उसी रात को मेरे पास आया डिक। उसने बताया वह हिन्दी-शिक्षावली दो भाग खतम कर चुका है; वह अब जल्दी ही इंग्लैंड वापिस चला जायगा; पर ललिता के बिना कैसे रहेगा? उसने अपने पैसे के, अपनी योग्यता के, अपनी स्थिति के, संक्षेप में अपने बड़प्पन के वर्णन पेश किये; अपना प्रेम जतलाया और उसके स्थायित्व की शपथ खाई। इस तरह अपना सम्पूर्ण केस रखने के बाद मेरी सहमति चाही। पर मेरी सहमति का प्रश्न नहीं था। मेरी तो उसमें हर तरह की मति थी। मैंने उसे आश्वासन दिया—

"कल ललित से जिक्र करूँगा।"

"देखिए, मैं नहीं जानता क्या बात है। पर मुझे ललिता को अवश्य पाना चाहिए। मेरी उससे बातचीत हुई है—खूब हुई। वह मेरे गोरेपन से घबड़ाती है, पर मैं उससे भी कह चुका हूँ, आप

से भी कहता हूँ, इसमें मेरा दोष तो है नहीं। फिर हिन्दी मैं सीखता जा रहा हूँ। वह कहती है, मुझ में और उसमें बहुत अन्तर है। मैं मानता हूँ—है। न होता तो बात ही क्या थी। पर हम एक हुए तो मैं कहता हूँ, सब अन्तर बह जायगा, मैं सब अन्तर बहा डालूँगा। जो वह चाहेगी सो ही करूँगा।"

मैंने उसे विश्वास दिलाया, "मैं भरसक करूँगा। किन्तु अच्छा होता ललिता को ही माफ़िक कर लिया जाता।"

उसने कहा, "ललिता के भारतीय-वातावरण में पले होने के कारण बिल्कुल स्वाभाविक है कि वह इस सम्बन्ध में अपनी आज्ञा अपने अभिभावक से प्राप्त करे। इसीलिए उसने मुझसे कहना ठीक समझा।"

मैंने फिर उसे वही विश्वास दिलाया, और वह मेरी चेष्टा में सफलता की कामना मनाता हुआ चला गया।

: ५ :

अगले रोज़ ललिता से ज़िक्र छेड़ा।

"ललिता, रात डिक आया था।"

ललिता चुप।

"तुम जानती हो, वह क्या चाहता है। तुम यह भी जानती हो कि मैं क्या चाहता हूँ।"

वह चुप। वह चुप ही रही।

मैंने सब ऊँच-नीच उसे बताया, अपनी स्पष्ट इच्छा,—यदि आज्ञा हो सके तो आज्ञा,—जतला दी; ऐसे सम्बन्धों का औचित्य प्रतिपादन किया; (संक्षेप में) सब-कुछ कहा। मेरी बात

ख़तम न हो गई तब तक, वह गम्भीर, मुँह लटकाये, एक ध्यान एक मुद्रा से, निश्चल खड़ी रही। मेरी बात ख़तम हुई कि उसने पूछा—

"बाबा को आने से आपने मना किया था ?"

कहाँ की बात कहाँ ? मैं समझ नहीं पाया, "कौन बाबा ?"

"वही बुड्ढा, सिक्ख, मिस्त्री।"

"हाँ, मैंने समझाया था, उसके फ़िज़ूल आने की ज़रूरत नहीं।"

"तो उनसे (डिक से) कहिए, मैं अपने को इतनी सौभाग्यवती नहीं बना सकती। मुझ नाचीज़ की फ़िक्र छोड़ें।"

मुझे बड़ा धक्का लगा। मुँह से निकला, "ललिता...!"

"उनसे कह दीजिएगा, बस।"

इतना कहते ही वह चली गई और मैं कुछ भी न समझ सका।

अगले रोज कचहरी से लौटा तो घर पर ललिता न थी। कालिज में दिखवाया, उसकी महिला-मित्रों के यहाँ पुछवाया। फिर उस बुड्ढे मिस्त्री के यहाँ ढुँढवाया। वह न मिली। वह बुड्ढा भी गायब था।

: ६ :

पूरा यकीन हैं, पुलिस ने खोज में कमी न की और पूरा अचरज है कि वह खोज कामयाब नहीं हुई। मैं समझता हूँ, वह सिक्ख सीधा आदमी न था। छँटा बदमाश है, और उस्ताद है, पुलिस की आँख बचाने का हुनर जानता है।

डिक को जब इस दुर्घटना की सूचना और ललिता का सन्देश मैंने दिया, तो डिक बेचैन हो उठा। उसने खुद दौड़-धूप में कसर न छोड़ी। पर कुछ नतीजा न निकला। डिक खुद अटक हो आया; पर वहाँ भी कुछ ख़बर न लगा सका।

हम सब लोगों ने स्त्रियों के भगाये जाने और बेच दिये जाने की ख़बरों को याद किया, और यद्यपि इस घटना का उन विवरणों से हम पूरा मेल न मिला सके, फिर भी समझ लिया, यह भी एक वैसी ही घटना हो गई है। वह बुड्ढा सिक्ख ज़रूर कोई इसी पेशे का आदमी है, चालाक है, जाने कैसे ललिता को बहका ले गया!

: ७ :

कोई इसके महीने भर के बाद की ही बात है। एक दिन मेरी अदालत के ही कमरे में डिक ने आकर मुझे एक तार दिखाया। कैम्बेलपुर के कलक्टर का तार था। उक्त विवरण की लड़की के साथ एक बूढ़ा सिक्ख पाया गया है। वह गिरफ्तार करके होशंगाबाद ही लाया जा रहा है। लड़की ने मुझ से (कलक्टर से) बोलने से इन्कार कर दिया, इससे मैं उसे समझा-कर होशंगाबाद न भिजवा सका।

हमें बड़ी खुशी हुई। डिक फौरन ही कैम्बेलपुर जाने को उतावला हो उठा, पर मैंने रोक दिया,—

"पहले, उसे आ तो जाने दो। देखो, कौन है, कौन नहीं।"

इसके तीसरे रोज मुझे ललिता की एक चिट्ठी मिली। चिट्ठी बहुत संक्षिप्त थी। मैंने अब तक ललिता की कोई चिट्ठी नहीं पाई, कोई मौक़ा ही नहीं आया। लिखा था—

"चाचा जी,

पिता जी के बाद बहुत थोड़े दिन तक मैंने आपको कष्ट दिया। इसलिए, पिता जी के नाते भी और अपने निजके नाते भी मेरा आप पर बहुत हक़ है। उस सब के बदले में आप से एक बात माँगती हूँ। उसके बाद और कुछ न माँगूगी, समझिए मेरा हक़ ही निबट जायगा। बाबा गिरफ्तार कर लिये गये हैं। उन्हें छुड़वाकर घर ही भिजवा दें, खर्च उनके पास न हो, तो वह भी दे दें।

आपकी—
ललिता"

चिट्ठी में पता नहीं था, और कुछ भी नहीं था। पर ललिता की चिट्ठी मानों ललिता ही बनकर, मेरे हाथों में काँपती-काँपती मुझ से अपना अनुनय मनवा लेना चाहती है।

अगले रोज़ जेल-सुपरिण्टेंडेण्ट ने मुझे बुलवा भेजा। वही बुड्ढा सिक्ख मेरे सामने हाजिर हुआ। आते ही धरती पर माथा टेक कर गिड़गिड़ाने लगा, "राजा जी..."

"क्यों बुड्ढे, मैंने तेरे साथ रहम वर्ता। तैंने शैतानी ?"

'राजा जी' और 'हुजूर' यह ही दो शब्द अदल-बदल कर उसके मुँह से निकलते रहे।

"अच्छा, अब क्या चाहता है ?"

"हुजूर...जो मर्ज़ी।"

"मर्ज़ी क्या, तुझे जेल होगी। काम ही ऐसा किया है।"

"हुजूर, नहीं-नहीं,......राजाजी !"

"क्यों रे, मेरी लड़की को ले भागने वाला तू कौन था, बदमाश-पाजी ?"

"नहीं-नहीं-नहीं..."

उसके बिना कहे ही मैं समझता जा रहा था कि वह किन्हीं विकट लाचारियों का शिकार बनाया गया है। लेकिन उस घटना पर जो क्षोभ मुझे भुगतना पड़ा था, वह उतारना तो चाहिए। इसलिए मैंने उसे काफ़ी कह-सुन लिया। फिर उसे रिहा कर देने का बन्दोबस्त कर दिया।

छूटकर वह मेरे ही घर आया।

"राजाजी..."

उसकी गड़बड़ गिड़गिड़ाहट में से मैंने नतीजा निकाला, वह ख़ाली हाथ है, किराये को पैसा चाहता है, तुरन्त वह घर चला जायगा, नहीं तो उससे नौकरी या मज़दूरी करवा ली जाय।

मैंने उसे घर पर रहकर काम करने का हुक्म दिया।

डिक को मैंने सूचना दी—वह बुड्ढा सिक्ख आ गया है। डिक ने कहा, "उसे छुटा लो। उसे साथ लेकर उसके गाँव चलेंगे।"

"छुटा लिया है।...तो गाँव चलोगे ?"

"हाँ, ज़रूर, अभी।"

हम दोनों बुड्ढे को साथ लेकर चल दिये। हमने देखा, बुड्ढा बिलकुल मनहूस नहीं है। बड़प्पन के आगे तो वह निरीह-दीन हो जाता है, पर अगर उससे सहानुभूति-पूर्वक हँस-खुशकर बोला जाय, तो वह बड़ा खुश-मिजाज़ बन जाता है। उसने सफ़र में तरह-तरह की हमारी सेवाएँ कीं, तरह-तरह के क़िस्से सुनाए;—लेकिन उस ख़ास विषय पर किसी ने ज़िक्र नहीं उठाया। मानो वह विषय सबके हृदय के इतना समीप है कि ज़रा उँगली लगी तो वह कसक उठेगा।

: ८ :

सिन्धु घहराता हुआ चल रहा है; और हम स्लेटी-पत्थरों के बीच एक पगडन्डी से चुपचाप चल रहे हैं—पैदल।

एक छोटे से गाँव के किनारे हम आ गये। पच्चीस-तीस घर होंगे। नीची छतें हैं, उनसे भी नीचे दरवाजे हैं। शाम हो गई है। हरित भीम-काय उत्तुङ्ग पर्वतमालाओं की गोद में, इस प्रशान्त-स्निग्ध सन्ध्या में, यह खेड़ा, इस अजेय-प्रवाह से बहते हुए सिन्धु के किनारे, विश्व के इस एकान्त, शान्त, अज्ञात और गुप-चुप छिपे हुए कोने में, मानो दुनिया की व्यर्थ व्यस्तता और कोलाहल के प्रतिवाद-स्वरूप विश्राम लेता पड़ा है। प्रकृति स्थिर, निमग्न, निश्चेष्ट मानो किसी सजीव राग में तन्मय हो रही है। यह खेड़ा भी मानो उसी राग के मौन समारोह में योग दे रहा है।

इन मुट्ठी-भर मकानों से अलग-थलग, जरा-ऊँची टेकड़ी-सी पर एक नया ही छा-छू लिया हुआ झोपड़ा आया, और बुड्ढे ने हमें खबरदार कर दिया। बुड्ढे ने उँगली ओठों पर रखकर संकेत किया,—हमको यहीं, चुप, ठहर जाना चाहिए। हम तीनों वहीं खड़े हो गये, मानो साँस भी रोक लेना चाहते हैं, ऐसे निस्तब्ध भाव से।

तभी आवाज़ आई।—"अभी नहीं, सबक़ ख़तम कर दो। तब चलेंगे।"

ओह, ललिता की आवाज़ है! डिक का तो कलेजा ही उछलकर मुँह तक आ गया। पर हम ज्यों-का त्यों रहे।

एक भारी, अनपढ़, दबी,—मानो, आज्ञा के बोझ से दबी,—आवाज़ में सुनाई पड़ा—

"दिस इज़ ए चे...चेअर..."

"हाँ, चेअर, ठीक, चेअर। गो ऑन।"

दो-तीन ऐसे लड़खड़ाते वाक्य और पढ़े गये और इसी प्रकार उन पर दाद दी गई। फिर उसी बारीक़, उकसाती हुई और चाह-भरी आवाज़ में सुन पड़ा—

"अच्छा, जाने दो। चलो, दरिया चलें। लेट'स् गो।"

हम ओट में छिप रहे। दोनों निकले। ललिता और वह—वह कौन है? शकल ठीक नहीं दीख पड़ी, पर देखा, खूब डील-डौल का जवान है। पट्ठे भरे हैं, चाल में धमक है,—पर सब में सादगी है।

ललिता ने उसके बाएँ हाथ की अँगुलियाँ थाम रखी हैं। उन्हीं अँगुलियों से खेलती चल रही है।

मैंने बुड्ढे से पूछा, "यह कौन है?"

"मेरा लड़का—पुरससिंह।" शायद पुरुषसिंह वह ठीक न बोल सका हो।

तब उस बुड्ढे ने कहा, "आओ, चलें, देखें।"

हम चुप-चाप उसके साथ चले।

सिन्धु सामने ही तो है। एक बड़ी-सी चट्टान के पास ऐसे खड़े हो गये कि उन दोनों की निगाहों से बचे रहें।

"यू, पोरस, वह क्या बह रहा है? लाओगे?—ला सकते हो?—कैन यू?" ललित की आवाज़ सुन पड़ी।

"वाह क्या बात!—लो।"

ऊँची धोती पर एक लम्बा-सा कुर्ता तो पहन ही रहा था। उतारा, और उस सिन्धु के हिंस्र प्रवाह में कूद पड़ा। लकड़ी का

टुकड़ा था, किनारे से १५ गज़ दूर तो होगा, हमारे देखते-देखते ले आया।

हँसता-दौड़ता आया ललिता के पास। बोला, "ले आया!—बस?—पर दूँगा नहीं। गीली चिकनी लकड़ी है, बुरी,—दूँगा नहीं।" इतना कहकर फिर उसने वह लकड़ी भरपूर जोर से धार में फेंक दी।

ललिता ने कहा—

"यू नॉटी,..."

मैं अपने को सम्भाल न सका। चट्टान के पीछे से ही बोल पड़ा—

"यू नाटिएस्ट...!"

और बोलने के साथ ही हम तीनों उसके सामने आविर्भूत हो पड़े।

"हल्लो, अंकिल!...एण्ड, ओह, हल्लो, यू, डिक! हाऊ ड'यू डू, डीअर डिक?...एण्ड, ओह, माई डीअर फ़ादर!—व्हाट लक्!" *

कहकर उसने बुड्ढे का हाथ चूसकर पहले उसका अभिवादन किया।—"सी यू माई पोरस,—डिक? किंग पोरस ऑव् हिस्ट्री, माइण्ड यू! इज़ ही नॉट एज़ यू योर सॅल्फ़" ×—डिक को

---

* "अरे चाचा!...और, ओह डिक तुम भी! सकुशल हो न!...और वाह, पिता आप भी!...मेरा कैसा सौभाग्य!"

"× मेरे पोरस को देखते हो, डिक? वही इतिहास वाला राजा पोरस, याद है न? वह क्या तुम जैसा ही सुन्दर नहीं है?"

वाग्विमूढ़ छोड़ पोरस की ओर मुड़कर कहा, "माई अंकिल, मेरे चाचा, एण्ड दैट माई डीअर डीअर फ्रेंड डिक, और वह डिक, मेरा खूब प्यारा दोस्त !"

पोरस घुटने तक आई हुई गीली धोती और नंगा बदन लिए, डिक अँग्रेज और मुझ जज के सामने, इस परिचय पर हँस दिया। मानो उसे हमारा परिचय खुशी से स्वीकार है। रेख अभी नहीं फूटी हैं, बदन और चेहरा भरा पूरा है, आँखें भोलेपन और खुशी से हँस रही हैं। मुझे यह मूर्ति स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता से खिली हुई,—मानो गढ़ी हुई,—यह मानव-मूर्त्ति अरुचिकर न जान पड़ी।

"पोरस, यू, चाचा को सिर नवाओ।"

उसने दोनों हाथ जोड़कर सभक्ति सिर नवाया।

तब डिक का हाथ बढ़ा। उसने पोरस का हाथ 'शेक' करते हुए कहा—

"पोरस तुम राजा है। हम हारता है, और हम खुश है।"

वैसे ही पोरस के हाथ को थामे हुए, ललिता की ओर मुड़कर उसने कहा—

"ललित, डीअर, आई काँग्रेच्युलेट यू ऑन योर ट्रेज़र, ऑन योर विक्ट्री, ऑन योर किंग ! इन ट्रुथ, आई डू। हीअर'ज माई हैण्ड।" * और ललिता का हाथ झकझोर दिया।

---

* "प्रिय ललित, तुम्हारी इस निधि, इस विजय, और तुम्हारे इन बादशाह पर तुम्हें बधाई देता हूँ। सच, मैं बधाई देता हूँ, और शुभ-कामना के प्रमाण में यह लो मेरा हाथ।"—शेक-हैण्ड अभिवादन की पाश्चात्य प्रणाली है, यह पाठक जानते ही हैं।

"लाङ्ग लिव पोरस, आई से,—एण्ड आइ बि सेड !"

मालूम नहीं, इसकी आवश्यकता थी या नहीं। जिन्हें भाग्य ने मिलाया, जो नर्मदा के किनारे से इतनी दूर यहाँ सिन्धु के किनारे आ मिले, उन्हें और क्या चाहिए था। फिर भी मुझ से उनका बाकायदा पाणिग्रहण करवाया गया।

बुड्ढा फिर मेरे यहाँ नौकर हो गया। पर पोरस और उसकी रानी अपने राज्य से नहीं हटे। और उन्होंने मेरी मदद भी नहीं ली। वहीं उस झोपड़े में, उस हरियाली और शान्ति की गोद में, और उस सिन्धु के तीर ही रहते रहे।

❁

भाभी

: १ :

एफ० ए० पास करने के बाद यह पता चला लेने में विनयचन्द्र को बहुत देर न लगी कि यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। इससे दुनिया में जीवन निबाहने में कुछ बहुत सुभीता हो जाता हो, सो उसे देखने में नहीं आया। बल्कि दिक्कत बढ़ जाती है। क्योंकि परिस्थिति वही रहती है, आकाँक्षाएँ बेहिसाब बढ़-बढ़ उठती हैं। इनके द्वन्द्व का नाम है क्लेश। वर्तमान के सत्य और भविष्य के स्वप्न को लोग एक सूत्र में गुँथे-हुए एकमएक न देखकर अपनी अज्ञानता से अपने भीतर जब उन्हें टकरा बैठते हैं, तब उत्पन्न होता है विग्रह, अर्थात् दुःख। कच्ची पढ़ाई से आशाएँ उद्दाम हो जाती हैं, विग्रह बढ़ता है। स्पष्ट है कि विग्रह जितना गहरा, द्वन्द्व जितना तीव्र, परिस्थितियों और आशाओं का अन्तर जितना दुर्लंघ्य, और 'जो है' उससे रुष्ट होकर 'जो चाहिए' उसे पा जाने की आसक्ति जितनी ही अन्धी होगी, दुःख उतना ही कष्टकर होगा। एफों-बीओं की पढ़ाई में ऐसा ही होता है।

यह तो ग़नीमत हुई कि विनयचन्द्र के पास पढ़ाई के अतिरिक्त कुछ और वस्तु भी थी। ठाली बैठे वह चित्र खींचा करता था। सीखा-साखा कहीं नहीं, यों बिलकुल बुरे चित्र न खींचता था। एक बाँसुरी भी उसके पास थी। इसलिए, कहो, पढ़ाई का ज़हर उसे पूरी तरह नहीं चढ़ पाया। इसीलिए जब दो महीने तक कोई नौकरी का सिलसिला हाथ नहीं आया, और गाँव छोड़कर अपनी अकेली माँ को साथ लेकर किसी शहर में भाग्य-परीक्षा के लिए जा पहुँचने के लिए उसने अपने को लाचार पाया, तब जितना और को होता उतना दुस्सह दुःख उसे नहीं हुआ।

माँ के अकेला बेटा है, और बेटे के अकेली माँ है। यही कहिए कि और कोई नहीं है; क्योंकि जो हैं, वे इन माँ-बेटों के लिए नहीं के बराबर नहीं हैं, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला।

एफ० ए० तक ठिनय कैसे पढ़ा, इसका सब हाल हम नहीं जानते। हाँ, जानना ज़रूर चाहते हैं। क्योंकि हमें अचरज है, कैसे पढ़ लिया। आजकल की पढ़ाई के लिये ज़रूरी अमीरी और अपनी निपट गरीबी को इन माँ-बेटों ने मिलकर खींच-तान करके, आज इस एफ० ए० पास के दिन तक, किस प्रकार जोड़े रक्खा, यह हम भी जान लेना चाहते हैं। पर अब नहीं चल सकता। बी० ए० के स्वप्न लेना अवश्य छोड़ देना पड़ेगा।

माँ सदा से ऐसी थी सो, हमें मालूम हुआ, नहीं है। कभी पैसा था, विनय के बाप थे, मकान-दुकान, और तब कुटुम्बी-पड़ौसी भी थे। पर विनय के बाप आँख मूँदकर चल दिये। तब पैसा हाट-हवेली भी जाने जल्दी से कहाँ खिसक कर चल दिये। जैसे यमदेव का पेट छोटा नहीं है, विनय के बाप को चुप-चाप खींचकर समा गया; उसी तरह अदालत, सरकार और दुनिया के और

लोगों के पेट छोटे नहीं हैं। बाक़ी जो कुछ था, बेमालूम ढँग से, वह उसमें समा गया। वह दो साल का विनय भी तब चल देने को हो गया था, लेकिन माँने और चारों ओर से आँखें मूँदकर भर-जोर कसकर इसे पकड़े रख जाने नहीं दिया। ऐसे समय शेष वस्तुओं और शेष लोगों को बड़ा सुयोग प्राप्त हो गया। धूल झोंकने की भी ज़रूरत कहीं हुई, आखें यों ही मुँदी थीं। इस तरह दिन और धर्म दोनों दहाड़ते रह गये, और सब-कुछ लुट गया। और गाँववालों को मानों पता भी न लगा।

जायँ कहाँ?—यह प्रश्न अब मुँह फाड़कर सामने खड़ा हो गया। इसके हल का कोई उपाय ही नहीं दीखता। विनय के मित्रों की नामावली इसके हल में कुछ भी काम नहीं आती। ऐसे समय माँको बीते दिनों की एक घटना याद आ गई। वही काम भी आई। माँने कहा, "बेटा, कानपुर चलो। वहाँ तुम्हें कहीं नौकरी भी लग जायगी, और बैठने को जगह भी मिल जायगी।"

बहुत दिन की बात हुई। विनय पूरा साल का नहीं हुआ था। ये सब लोग तीरथ-यात्रा को चले थे। रास्ते में एक और परिवार साथ हो गया था। उन पर कुछ संकट आया था, तभी संयोग से इनका परिचय हुआ। इनके कारण संकट से उन्हें छुटकारा मिला। तब कानपुर के उस प्रेमी परिवार ने इन्हें अपने से बिछुड़ने न दिया। दो महीने की लम्बी यात्रा-भर सब साथ रहे। उनके एक पुत्र था, जो विनय से तीन-चार साल बड़ा होगा। वे भी तीन ही थे। माता, पिता और पुत्र। बच्चों-बच्चों में दोस्ती हो गई, पिताओं में सौहार्द उत्पन्न हो गया, और माताओं में वह अटूट अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हुआ जो स्मरण से मिटे नहीं। वह माँ बड़ी स्नेह-शीला थीं। अलहदा होते वक्त विनय को बहुत-बहुत

खोया रहता है। दिल की तरह इतना नाजुक है कि छन में लचक जाता है और टूट जाता है। साथ ही इतना अटूट है कि दिल-वाले इसी पर अपना सब बोझ डालकर भव-सागर तर जाते हैं।

: २ :

लाला धनीराम के परिवार में इन अठारह सालों में धन की और जन की कुछ वृद्धि ही हुई है। भाग्य का बूढ़ा देवता बैठा-बैठा ऐसा ही जुए-का-सा खेल करता रहता है। यहाँ से दो को ऋण कर दिया, वहाँ दो को जनमा दिया। इसकी जेब में से निकालकर एक तमाशा देखा, उसकी जेब को भरकर उधर दूसरे तमाशे का सामान कर दिया। वह बड़ा खेल का शौकीन है। तो क्या हम उसकी नीयत पर हमला करें? सो बात नहीं होनी चाहिये। द्यूतप्रेमी न हो तो भाग्य भाग्य क्या रहा। और करने-वाला और बदला लेने-वाला हो, तो देवता वह क्या रह गया, आदमी ही न हुआ। सो, खेल-खेल में उसने विनय की माँ का घर उजाड़ा है, तो लाला धनीराम के घर को गुलजार बना रक्खा है। सब आराम है, बड़ी दुकान है, बल्कि दो दुकानें हैं। घोड़ा-गाड़ी भी है। और सब से बढ़कर है कामिदाँ जवान पुत्र, और सुशीला पुत्र-वधू। बहू के दो बालक हैं। बड़ा पुत्र आठ बरस का होगा; छोटी कन्या तोतली बोलती है, तीसरे बरस में है, बड़ी अच्छी लगती है। ला० धनीराम वृद्ध हो गये हैं, पर खूब सक्षम हैं। सुबह उठते ही खूब दूर घूमने को जाते हैं। उनकी पत्नी धर्म-शीला है, दान-वान खूब करती रहती हैं।

विनय की माँ थोड़ा भटककर अन्त में इस घर पर आ ही गईं। सामान धर्मशाला में ही कहीं छोड़ आई थीं। विनय को साथ लेती आई थीं।

विनय को बाहर ही छोड़ा, आप अन्दर गईं।

उस वक्त ग्यारह बजे होंगे। चौके-चूल्हे का समय था। बड़ी माँ जी भी और बहू भी चौके में ही थीं। बालक रामू मकान के आँगन के बीच में खड़ा होकर मोटर उलट कर बड़े गौर से उसके स्प्रिंग देख रहा था। कारण, मोटर चलते-चलते शरारत करके एक दम खड़ी हो गई थी। चाबी पूरी खत्म हुई नहीं, फिर यह सुसरी क्यों रुक गई, इसी का कारण जानकर, दण्डविधान जारी करके फिर सब काम ज्यों-का-त्यों ठीक कर देना होगा। इसी अपने दायित्व से उऋण होने की युक्ति सोचने में बालक व्यस्त था। और पास ही अपने भाई की व्यस्तता को देखने में व्यस्त होकर तुतली पद्मा खड़ी थी। और एक ओर नौकरनी इन बालकों की निश्चिंत व्यस्तता के कारण कुछ अवकाश पाकर मेज के आगे खड़ी होकर दर्पण में अपनी छवि देखने और बालों को कंघी देकर जरा ठीक करने में लग गई थी।

विनय की माँ ने घर में प्रवेश करके, और किसी को सामने न पाकर इस व्यस्त बालक को सम्बोधन करके पूछा, "बहन जी कहाँ हैं ?"

बालक ने इनकी ओर देखा। पूछा, "क्यों, क्या काम है ?"

पद्मा भी इन नवागता को देखती रह गई। मानो भाई ने न पूछ लिया होता, तो यह जवाब तलब करने को तैयार है ही कि 'क्यों' क्या काम है ?

माँ ने उत्तर दिया, "उन से कहो कि कोई आप से मिलना चाहता है।"

अब तक अपनी छवि देखती हुई उस दासी को भी चेत हो गया था। इस बाँके श्याम सौन्दर्य के आगे भी वह कहार का

छोकरा क्यों इधर-उधर आँख डालता है, और लोग क्यों इतने मूर्ख हैं कि वे इन चरणों में आकर नहीं लोट-पोट होते, दर्पण के सामने खड़ी होकर वह यही बातें सोचने में लगी थी। और इसी सिलसिले में अभी हाल उसने पता पाया था कि बाईं ओर के बाल जो माथे के आगे लाकर, चिपकाकर, बल डालकर फिर पीछे को ले जाये गये हैं, वे कम आगे आये हैं। कंघी से उन्हें और आगे लाने का उपक्रम करती ही थी कि यह औरत आ कूदी। उसने झपटकर सामने पहुँचकर कहा, "क्या कहती हो, किसे चाहती हो ?" कहने के साथ ही एक निगाह में उसने ऊपर से नीचे तक उसे देख लिया।

माँ ने दीन होकर कहा, "मैं पछती थी कि बहन जी कहाँ हैं ?"

"कौन भैन जी ?"

"वही जिनका यह घर है ?"

"किन का घर है ?"

"बहिन जी का। उन्हीं को मैं पूछती हूँ।"

"अरे तो फिर वह कौन हैं ?"

लाला धनीराम जी का नाम तो वह जानती है। लेकिन उन का नाम इस मौके पर ले या न ले, यह नहीं जानती। उसने कहा, "मैं बड़ी दूर से आई हूँ। उन्हीं के लिए आई हूँ।"

"क्या काम है ?"

"काम तो क्या, मिलने आई हूँ।"

"क्यों मिलने आई हो ?"

"यों ही मिलने आ गई हूँ।"

दासी ने कहा, "मिलने आई हो तो फिर कभी आना। अभी वह नहीं मिल सकतीं।"

उस समय बालक रामू ने जोर से चिल्ला कर कहा, "अम्मा, कोई तुम से मिलने आई हैं।"

माँ जी ने चौके में से ही जोर से आवाज देकर कहा, "कौन है ? उन्हें ऊपर कमरे में ले आ।"

बालक ने कहा, "चलो, ऊपर चलो। बुलाती हैं।"

माँ के गये प्राण लौट आये। वह ऊपर कमरे में गईं, और भाँति-भाँति की चीजों से भरे हुए उस कमरे में पहुँच कर सोच न सकीं, क्या करना चाहिए, खड़ी-खड़ी उसे देखती रह गईं। थोड़ी देर में घर की मालकिन का आना हुआ। अभ्यर्थना-पूर्वक बैठाकर पूछा, "कहाँ से आना हुआ ? मेरे लिए क्या काम है ?"

उन्होंने कहा, "बहिन जी, मुझे पहचाना नहीं ?"

लेकिन बहिन जी अब भी पहचान न सकीं। विनय की माँ की आँखों में आँसू आने को हो गये। अपने को पहचनवाना होगा, यह कैसी विडम्बना है ! बड़ा बल लगाकर बोलीं, "यो ही मिलने चली आई। और कुछ काम तो नहीं था।"

"चली आई तो अच्छा ही किया। यह तो तुम्हारा ही घर है। लेकिन मुझे बिलकुल भी याद नहीं, मैंने कब और कहाँ आप को देखा है। मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि मैं भूल जाती हूँ। याद मेरी ऐसी ही है; बड़ी कच्ची है। आप मुझे जरा तो मदद कीजिये, फिर सब याद आ जायगा।"

विनय की माँ ने कहा, "जिसको तुमने अयोध्या जी में बहन बनाया था, उसे भूल जाओगी बहन जी ?"

एक ही झटके में स्मृति का द्वार खुल पड़ा और बहुत-सी बातें उखड़-उखड़ ऐसी सामने आती चली गईं जैसे द्वार के उस ओर

झटपट दौड़ आने के लिए अवसर पाने की प्रतीक्षा ही कर रही थीं।

उस समय गले मिलकर, हँसकर, बोलकर तरह-तरह से उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट की और आग्रहपूर्वक विनय की माँ के अब तक के दिनों का इतिहास पूछकर जान लिया। विनय की माँ किसी विधि से अपने को रोक न सकी। स्नेह के आगे गोपनीय क्या कुछ रक्खा जा सकता है और यह भी कह दिया कि वह उन्हीं के आसरे का भरोसा बाँधकर दुनिया में जी रही है और यहाँ आ गई है।

रामू की दादी ने पूछा, "अच्छा, सामान कहाँ है?"

"धर्मशाला में रक्खा है।"

"क्यों, वहाँ क्यों रख छोड़ा? और बिन्नू कहाँ है?"

"वह तो बाहर ही होगा।"

"हैं बाहर!" कहकर रामू को आवाज दी। रामू को कहा कि बाहर कोई खड़े हैं, उन्हें यहाँ ले आ। रामू के चले जाने पर विनय की माँ से कहा, "वह तो अब खूब बड़ा हो गया होगा।"

विनय की माँ ने कहा, "तुम्हारे पोते-पोती हो गये और विनय बड़ा ही न हो। गिरधर यहाँ नहीं है क्या?"

"वह तो अब दुकान पर होगा। वहीं रहता है। सब काम-धाम उसी के ऊपर है, नहीं तो नौकर लोग..."

तभी आ पहुँचा रामू विनय को लेकर। विनय की युवावस्था की विनयशील और शर्माती हुई मुद्रा को देखकर इन महिला के जी में आया कि किसी तरह इस विनयानत लजीले युवक को प्रत्यक्ष हो जाता कि जब वह मुश्किल से एक साल का नन्हा-खिलौना सा था, तब वही किस तरह निर्लज्ज और उद्धत होकर, मुँह-हाथ

में मिट्टी लपेट कर मेरी गोद में बेधड़क चढ़ा चला आया करता था। तब यह मेरे सामने अजनबी-सा बनकर खड़ा होना भूल जायगा। देखो न, ऐसा खड़ा होता है जैसे मेरा उससे कभी वास्ता नहीं रहा, जैसे मैं उसे कभी जान ही नहीं सकती। कहा, "खड़ा क्या है, बैठा नहीं जाता।"

विनय एक जगह आकर संकुचित होकर बैठ गया। उसकी माँ ने कहा, "यह तेरी माँ से भी ज्यादा माँ हैं, समझा?"

इस पर साहस करके विनय ने इन नयी माँ को देखा। उन्होंने कहा, "इतना बड़ा हो गया, फिर भी डरता क्यों है?..."

विनय झेंप रहा।

"सुबह से कुछ खाने को नहीं मिला है क्या?" इतना कहा और कहने के साथ ही उन्हें सचमुच इन मेहमानों के खाने का ख्याल हो आया। पूछा, "अभी तो तुमने कुछ भी क्या खाया होगा? और मैं बातों में लगी रही।...बहू, देखो इन्हें खाना खिलाना।...जा भई, शर्माने की यह जगह नहीं है, रामू, इन्हें ले जा।"

आकस्मिक अप्रत्याशित रूप में जब हृदयतल से ऐसी आव-भगत सिर पर बरसी पड़ रही है, तब किस प्रकार वाग्विमूढ़ हुए बिना रहा जाय?

रामू विनय को लेकर चला गया। चौके के द्वार पर वह तनिक ठिठक रहा। वहीं से रामू ने कहा, "भाभी, अम्माँ ने इन्हें भेजा है। यह खाना खाएँगे।"

भाभी जिनको कहा गया, उन्होंने झटपट उठ-उठाकर पटड़ा बिछा दिया, थाली ला रक्खी, पानी भरकर रख दिया, और फिर खुद चूल्हे के पास पहुँच गईं।

इस वक्त तक विनय भी उस कमरे में प्रवेश कर चुका था। इस बालक के बराबर ही अपने को मानकर, उसी के सुर में सुर मिलाकर, वह अब इन्हें भाभी ही समझ लेगा। वह पटड़े पर बैठ गया।

आज जीवन में यह उसका कैसा दिन है ? दिल उछल रहा है, और वह घबड़ा रहा है। इस देवताओं के घर में उसे लाकर अवगुण्ठनवती अन्नपूर्णा के सामने ला बैठाला गया है। वह क्या किसी तरह यहाँ से शून्य होकर चुपचाप विलीयमान नहीं हो जा सकता। क्योंकि बिछुओं की रुन-झुन जो अभी शान्त हुई है, वह उसके कानों में बज रही है, और उसकी दृष्टि उन चरणों में हठ करके जा पहुँचना चाहती है। जो यहाँ-वहाँ डोलकर, एक निराला संगीत उत्थित करके, उसकी गूँज अवशेष छोड़कर अब चुपचाप, उस देवी का सुकोमल भार अपने ऊपर लिए अलंकृत और धन्य होकर विराज रहे हैं। और वह अपनी दृष्टि को किसी भी तरह वहाँ तक नहीं पहुँचने देना चाहता। चाहता है, यहीं मैं मर जाऊँ, और ये चरण मेरी मुँदी आँखों को ठोकर मारकर स्पर्श कर जायँ। यह मेरे लिए बहुत है। खुली आँखों से मैं उन्हें नहीं देख सकूँगा।

जीवन में पहले रोज आज स्त्री उसके सामने पूर्ण वदान्यता, भक्तवत्सलता और स्नेह से अलंकृत वरदा देवीमति के रूप में आई, और अपने को उसने उसके समक्ष तनिक कृपा-कोर के अनुग्रह के भिक्षार्थी भक्त के रूप में पाया।

अब हम अपनी 'भाभी' के पास आगये हैं। यहाँ से हमारी कहानी का आरम्भ होता है।

: ३ :

थाली में आँख गाड़कर धीरे-धीरे उसने खाना आरम्भ किया।

लेकिन बड़ी कठिनता होती है। मुँह में जो कम-ज्यादा ग्रास जाता है, इसकी पर्वाह बिलकुल नहीं है। पर थाली की ओर ही देखते रहने का जो अत्यधिक ध्यान रखना पड़ता है, यह मुश्किल है। जब किसी के हाथ आगे बढ़कर विनय की थाली में रोटी डाल जाते हैं, तब मुश्किल बहुत बढ़ जाती है। वह हाथ झटपट बढ़ते, और काम करने पर उससे भी शीघ्र खिंच जाते हैं; कन्नी उँगली के पास वाली उँगली में सोने का छल्ला पड़ा है; वह हाथ बड़े चतुर हैं, बड़े गोरे-गोरे हैं। क्या वह उन्हें देखना चाहता है? नहीं, उन्हें बिल्कुल भी देखना नहीं चाहता। पर वही जब बढ़कर आगे आ पड़ते हैं, तो क्या किया जाय! थाली के सिवा किसी भी तरफ़ देखने से उसे सरोकार नहीं है, इच्छा नहीं है; यह उसका भगवान् जानता है। लेकिन आँखों का क्या करे जो थाली की परिधि में घिरकर चुप सीधी तरह होकर बैठती नहीं, इधर-उधर थोड़ी-बहुत उठ ही जाती हैं।

ऐसे आत्यन्तिक यत्न की क्या भीड़ आपड़ी है? कोई है थोड़े ही, जो उसकी आँखों की चौकसी करता बैठा है! किसने चाहा है कि वह थाली में ही आँखें गाड़कर बैठा रहे? कोई उसके इस यत्न की प्रशंसा करने-वाला नहीं है। यह यत्न सरासर अनावश्यक है। घूँघट द्वारा सुरक्षित कुल-वधू रोटी के जलने न जलने में बड़ी व्यस्त है, इस यत्न को समझ-देखने का अवसर उसके पास नहीं है, इसमें व्यतिक्रम पड़े तो उसकी भी पर्वाह करने की फ़ुर्सत उसे नहीं है।

पर, हाय, विनय यह सब-कुछ नहीं जानता। वह नहीं देख सकता, नहीं देख सकता। कैसे देख सकता है?

लेकिन भाभी क्या कभी १५-१६ वर्ष की नहीं रहीं, जब

विवाह हुआ न होगा, किन्तु विवाह की प्रतीक्षा की आशा स्वर्ण-रेखा की भाँति उनके स्वप्नाकाश की प्राची दिशा में उदित हो पड़ी होगी, और वह उसे विस्मय से देखकर पुलकित होती होंगी। जब सब ऋतु उनके निकट वसन्त होंगी, और विश्व प्रणय से पूरित होगा। जब वस्तुमात्र उनके हृदय में हिलोर उठा देती होगी, जो उनकी देह को कंटकित करके फिर उसमें से फूटकर सुख की सिहरन की तरह ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाय।

जब घूँघट उधर मुड़ने की धमकी देता है, तब थाली पर बैठे इस बाल युवक की आँखें जो तनिक-तनिक ऊपर उठने का साहस कर रही हैं, एकदम मुड़-कर थाली में जा जमती हैं—कभी किशोरिका रही हुई भाभी ने बिना देखे भी यह सब देख लिया। तब इस अबोध अल्हड़ सलौने मुख-वाले बालक के प्रति आत्मीय स्नेह के भाव से उसका हृदय भर आया। यह भाभी का प्यार था, जो माँ का प्यार नहीं होता, क्योंकि उससे स्निग्ध होता है; स्त्री का प्यार नहीं होता, क्योंकि उससे निरपेक्ष होता है। बहन का प्यार नहीं होता, जो क्रमशः पुष्ट और परिपक्व होता है; यह जैसे सोता फूट निकला, हृदय में से स्वतः स्फुरित होता है। फिर भी यह सब कुछ होता है।

भाभी ने, अब के अपनी वाणी स्फुट करके, घूँघट के भीतर से ही, रोटी देते हुए कहा, "लो।"

विनय ने यह सुन लिया। उत्तर में बोल नहीं सका। हाथ थाली के ऊपर फैला दिये, जिसका आशय था कि वह रोटी नहीं लेगा।

हाथों के बीच में किसी तरह रोटी को थाली में छोड़ देने की भाभी ने चेष्टा की।

हाथों को खूब अच्छी तरह फैलाकर विनय थाली को ऐसी पूरी तरह ढँक-कर बैठ गया कि रोटी का पड़ना सम्भव न हो सका।

भाभी जब अपनी चेष्टा में कृतकार्य न हो सकीं तो उन्होंने हाथ पर ही रोटी छोड़ दी।

विनय की आशा क्या कभी इस स्वर्ग तक पहुँच सकी थी? बिना आयास के अब वह बोल पड़ा, "यह रोटी ऐसी ही पड़ी रहेगी। मैं नहीं खाऊँगा।"

भाभी ने उसकी इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया, जैसे पर्वाह ही नहीं की। वह अपने काम में लगी रही।

विनय ने फिर कहा, "यह ज़बर्दस्ती करनी अच्छी नहीं होती। मैं नहीं खाऊँगा।"

भाभी ने उत्तर में करछी में साग लिया और उसकी थाली में डाल दिया। विनय अपने हाथ फैला कर न रोक सका।

विनय इस पुण्य-प्रसाद की रोटी छोड़ देगा तो जीवन में पायगा क्या?

वह पूरी रोटी खतम कर चुपचाप उठ कर चला गया।

: ४ :

घर में कुछ हिस्सा इन माँ-बेटों को रहने के लिए दे दिया गया है। माँ नहीं चाहती कि इस प्रकार दूसरे के अनुग्रह पर रहें, लेकिन घर की मालकिन तो अभी किराये की बात सुनने को तैयार नहीं हैं। कहती हैं, घर तुम्हारा ही है। और विनय कमाने लगेगा तो चाहो तो किराया भी दे देना। माँ को लाचार होकर मान लेना पड़ता है। विरोध में आग्रह करें, ऐसी परिस्थिति भी नहीं है।

रहते-रहते एक दिन लाला धनीराम और गिरधरप्रसाद की

सहायता और उद्योग से विनय को एक दफ्तर में नौकरी भी लग गई। वह ३५) लाकर प्रति मास माँ को देने लगा। माँ ने अब किराया देना भी आरम्भ कर दिया। अब मानो वह अपने हक़ के बल पर यहाँ रहने लगीं।

पर, विनय हक़-वक कुछ नहीं जानता। अपने को इन लोगों का कृपानुजीवी ही मानता है। मौक़ा हो तो वह इनकी चाकरी में अपना जीवन बिता दे। इनके हाथों जो स्नेह और आदर उसने पाया है, उसकी कीमत क्या रुपयों में आँकी जा सकती है। क्या उससे भी बढ़कर दुनिया में कोई चीज़ है? वह जीवन को हिसाब की बुद्धि से नहीं देख पाता। इसलिए दुनिया के बाज़ार में जीवन का कोई बड़ा लाभकारी सौदा कर सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। वह ३५) चुपचाप ले आता है, और न ज्यादा चिन्ता करता है न यत्न कि कहीं से और कभी उसे ज्यादा मिलने लगे। लोगों ने कहा भी है कि उसकी जैसी योग्यता-वाले को आसानी से तनिक चेष्टा करने पर, ६०) कोई भी दे सकेगा। पर उसे इस पर भरोसा नहीं होता। उसे समझ नहीं आता, वह किधर से योग्य है। इसलिए ३५) जो पाता है, उसके एवज़ में वह मालिकों का पर्याप्त से अधिक कृतज्ञ रहता है, असन्तुष्ट बिल्कुल नहीं रहता। इसलिए, जिसे बेईमानी कहा जाय, वैसा भाव उसमें उपजने नहीं पाता, वैसे काम की बात तो दूर रही। संक्षेप में हम कहें, वह बुद्धिमान् नहीं है।

जब आदमी यहाँ मिले एक-एक खाली मिनट को काम से और सतत चेष्टा से भर दुनिया की दौड़ में आगे-से-आगे जाने में लगे हुए हैं, तब यह अपने खाली वक्त को खाली ही रखता है। जिसे समझदार आदमी काम समझ सकें, ऐसी कोई भी बात वह

नौकरी से बचे हुए खाली घण्टों में नहीं करता। पद्मा नाम की उस तोतली लड़की के साथ तुतला-कर बोलने में और उसे चिढ़ाने-मनाने में घण्टों गँवा देता है । और रामू के साथ तो बड़ी-बड़ी शरारतें करता है। जब ये और ऐसे ही साथी उसको नहीं मिलते, तब बैठ-कर चित्र खींचने लगता है। नहीं तो उठकर चल देता है। और बाग़ में बंसरी बजाता है। ठाली बैठे कभी कुछ लिख भी देता है। उसके पास इधर-उधर के कुछ अखबार आ जाते हैं, पसे बचा-कर कभी-कभी किताबें भी कुछ ख़रीद लेता है।

यह घर वैसे लाला लोगों का घर है। उन्हें रुपया कमाने में व्यस्त रहना पड़ता, फिर कमाये हुए धन को रखने की चिन्ता में व्यस्त रहना पड़ता है। उनके मिनट-मिनट की कीमत है। उनका संसार मुद्रामय है। परमात्मा के इस विश्व के साथ रुपया कमाने के प्रयोजन के रास्ते ही अपना सम्बन्ध इन्होंने जोड़ा है। नहीं तो यह अलग हैं, दुनिया अलग है, रुपया आने-जाने के मार्ग के कारण ही दोनों में सम्बन्ध है। यह दुनिया में से अपने अर्थ की प्राप्ति करें, और दुनिया इनके निकट अर्थसम्पन्न क्षेत्र रहे—इस घर के पुरुष संसार के साथ इसी रिश्ते की धारणा पर जीवन चलाते हैं। और घर का तन्त्र पुरुषों के हाथ में रहता है। इन सब कारणों से घर में अख़बार-शख़बार नहीं आया करते। किताबों में भूतनाथ, चन्द्रकान्ता की जिल्दें हो सकती हैं, और विशेष किताबें नहीं हैं।

इसलिए रामू जब विनय के पास किसी अख़बार में से तरह-तरह की तस्वीरें और जगह-जगह की विचित्र ख़बरें देख-सुन पाता है, तो बड़ा खुश होता है। वह जब-तब विनय के कमरे में आ पहुँचता है, और उसकी अनुपस्थिति में भी किताबों और पत्रों के

पन्ने उलट-उलट कर अपना मन बहलाया करता है। मौक़ा पाकर इस तरह की चीज़ें वह ऊपर भी ले जाता है, और अपनी भाभी को और अम्माँजी को दिखाया करता है। भाभी और अम्माँ बड़ी खुश होती हैं। भाभी तो एकाध बार रामू के साथ स्वयं आकर विनय की अनुपस्थिति में उसके कमरे की जाँच-पड़ताल कर गई हैं। अब उनमें इतना साहस आ गया है कि रामू के भी साथ का आसरा न देखें, और खुद विनय की किताबों की तलाशी लेना आरम्भ कर दें। विनय को यह सब-कुछ भी मालूम नहीं है।

एक दिन ऐसे ही अकेले आकर भाभी ने कोई किताब देखने को उठाई। उसे खोलकर पन्ने एकाध उलटे ही थे कि एक काग़ज उसमें से निकल पड़ा। उसे देखा, और देखती रह गईं। वह एक चित्र था, पेंसिल से बनाया हुआ था।—कोई महिला परली तरफ़ मुँह किये हुए खड़ी हैं। एक हाथ से दर्वाज़े की चौखट पकड़ रक्खी है, एक पैर दहलीज पर रक्खा है, दूसरा नीचे है उस पैर पर से इसलिए ज़रा धोती उठ गई है, और उसकी पिंडलियों तक का कुछ भाग उघड़ गया है। उसी तरह उठे हुए हाथ की धोती जा सरकी है, और कोहनी तक बाँह प्रकट हो गई है। उँगली में छल्ला है, दो काँच की और एक सोने की चूड़ियाँ पड़ी हैं। वह बिल्कुल असावधान हैं, दूसरी ओर किसी से कदाचित् कुछ बात कर रही है।

भाभी तस्वीर देखती रहीं, देखती रहीं। फिर किताब को सम्भालकर वहीं-का-वहीं रख दिया, तस्वीर को जेब में रख लिया और चली गईं।

शाम को लौटा विनय। उसे तस्वीर को पूरा करने का ध्यान था। वह अभी अधूरी थी। उसने किताब को जो खोला तो तस्वीर न थी। उसे बड़ा अचरज हुआ। समझा भूल हो गई। और किताबें

देख डालीं, तस्वीर नहीं मिली। और जहाँ रखने की सम्भावना हो सकती थी, वहाँ देख ली। जब कहीं न मिली, तो बड़ा सोच आया। आवाज़ देकर रामू को बुलाया—"रामू, तुमने कोई तस्वीर देखी है ?" रामू ने कहा, "कैसी तस्वीर ?"

विनय, "तस्वीर कैसी मामूली तस्वीर। किसी किताब में तुमने तस्वीर नहीं देखी ?"

रामू, "बहुत-सी किताबों में बहुत-सी तस्वीरें देखी हैं। आप जाने किसे पूछते हैं।"

विनय, "अरे, बहुत-सी नहीं। इस किताब में मैंने एक खींचकर रखी थी। अभी अधूरी थी। तूने नहीं देखी ?"

रामू, "मैंने नहीं देखी।"

विनय, "नहीं देखी तो कहाँ गई ? यहाँ तेरे सिवाय कौन आयेगा ?"

रामू, "मैंने नहीं देखी, मैं कहता हूँ। मैं लेता तो बता न देता।"

विनय, "जाके भाभी से पूछो, हमारी तस्वीर कहाँ गई। अभी हमने पूरी भी नहीं की थी।"

रामू, "हाँ हाँ, उन्होंने ली होगी।"

रामू दौड़कर भाभी के पास गया। "बोला, "विनय बाबू तस्वीर की पूछते हैं। तुमने कोई तस्वीर देखी है ? उन्होंने किताब में रखी थी, अब नहीं मिलती।"

भाभी ने साश्चर्य कहा, "कैसी तस्वीर ? मैं क्या जानूँ ? मैं जैसे उनकी चीज चुराने को बैठी हूँ।"

रामू ने आकर यही बात विनय से कह दी। विनय को सुनकर बड़ा अफसोस हुआ कि क्यों उसने रामू को भाभी के पास पूछने

भेज दिया। कहा, "हाँ ठीक तो है। वह कोई यहाँ आती है जो ले जायँगी। मेरी भी क्या मत हुई कि उनसे पूछ बैठा।"

रामू ने कहा, "यहाँ तो भाभी कई बार मेरे संग आई हैं।"

विनय, "यहाँ आई हैं?"

रामू, "हाँ, यहाँ आई हैं। मेरे संग आई हैं। हम दोनों खूब किताबें देखते रहे हैं।"

यह सुनकर विनय फिर एक क्षण न ठहर सका। सीधे भाभी के पास जाकर बोला, "भाभी, तुमने मेरी तस्वीर ली है? अभी वह ठीक नहीं हुई है, मुझे दे दो।"

भाभी इस अनपेक्षित उपद्रव पर ठीक समय पर ठीक ढंग से जल्दी में घूँघट नहीं काढ़ सकीं। वह बैठी हुई थीं, विनय के आने पर, और कुछ बोली नहीं। विनय ने फिर वही बात कही, "तस्वीर मेरी मुझे दे दो।"

भाभी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह उठकर चुपचाप दूसरे कमरे में चली गई।

विनय लज्जित होकर कुछ क्षण वहीं खड़ा रहा। समझ में न आया, क्या करे? लौट कर आया माँ जी के पास। देखे तो वहाँ पास ही भाभी बैठी हैं। उसने माँ जी से कहा, "माँ जी, देखो भाभी जी ने हमारी एक तस्वीर रख ली है। हम कहते हैं, हमें दे दो, अभी वह पूरी नहीं हुई है। यह देती नहीं है।"

माँ जी को यह लड़का बड़ा अच्छा लग रहा है। उन्होंने हँस कर पूछा, "तस्वीर कैसी?"

विनय, "मैंने तस्वीर खींचना शुरू की थी। किसी ने किताब में से निकाल ली।"

माँ जी, "फिर तुझे कैसे मालूम इसने ले ली?"

विनय, "इनसे ही पूछ लो।"

माँ जी ने भाभी से कहा, "ली हो तो दे क्यों नहीं देती—देखूँ, कैसी तस्वीर है ?"

भाभी ने घूँघट में से धीरे से कहा, "यों ही कहते हैं। मैं कैसे जानूँ कैसी तस्वीर ?"

माँ जी ने और ज्यादा हँसकर कहा, "यह तो कहती है, मैं कुछ नहीं जानती। इसने नहीं ली होगी, तेरा भरम है।"

विनय, "नहीं ली होगी तो यह जानें। लेकिन फिर किसने ली ?"।"

माँ जी, "वहीं कहीं फिर देख, मिल जायगी।"

विनय ने कहा, "मिलती-विलती तो अब वह क्या है। और गई है तो जाने दो। लेकिन अभी अधूरी है। किसी ने यह अच्छा नहीं किया, जो ले ली।"

इतना कहकर वह लौट कर जब वह आया तो तस्वीर की याद वह भूल गया था। एक और तरह का दुःख उठा है जो उसके हृदय के प्रदेश-प्रदेश में समाता जा रहा है। उसे दुःख हो रहा है कि वह बिना सोचे-समझे किस हिम्मत पर तस्वीर का आरोप भाभी के सिर लगा सका ? क्यों वह इतना बेवकूफ हो जाता है ? क्यों वह चुप होकर नहीं बैठ सका, वहाँ भाभी के मन को क्लेश पहुँचाने के लिए ऊधम करता पहुँच गया ? माँ जी के सामने तक भाभी को लज्जित करते उसे लज्जा नहीं हुई ? हाय, वह क्या-क्या कर बैठता है !...भाभी क्या सोचेंगी, मन में मुझे क्या कहती होंगी ?

उसका वस चले तो अभी भाभी के पैर पकड़कर अपराध का प्रतीकार कर डाले। पर, बस नहीं चलता; बेवकूफी के आवेश में

जिस अन्तर को लाँघकर एक-दम से भाभी के साथ झगड़ने पहुँच गया, वह अन्तर प्रकृत अवस्था में वास्तव में दुर्लंघ्य हो जाता है। मन में जो दुस्सह क्षोभ और आत्म-तिरस्कार का भाव धुएँ की तरह उठ-उठकर घुट रहा है, भाभी से सफ़ाई का या क्षमा-याचना का एक भी शब्द कहने का मौक़ा क्या वह ला सकेगा ?—कैसे ला सकेगा ? क्योंकि प्रकृतिस्थ अवस्था में वह भाभी की परछाँई का भी सामना नहीं कर पाता है, इतना डरता है।

स्नान-घर जाते समय विनय के कमरे के पास से गुज़रना होता है। भाभी गर्मियों में सुबह-शाम दोपहर जब चाहे नहाने लगती हैं। बहुत नहाती हैं। शाम को तो अवश्य नहाती हैं। उन्हें क्या मालूम आज विनय इस समय कमरे में ही मौजूद है। स्नान के लिए जाते हुए जो अनायास उन्होंने खिड़की में से कमरे में झाँका तो देखें विनय। इससे पहले कि भाभी का मुँह झुककर नीचे हो जाय, विनय ने भी उसे भरपूर देख लिया। वह मुँह हँसता-सा था, क्लेश से खिन्न नहीं था। और वह भाभी की मानसिक मूर्त्ति जो उसके चित्ताकाश में यहाँ से वहाँ तक फैलकर, उसमें गहरा मनस्ताप उपजा रही थी, म्लानमुख थी। वह किसी तरह उसे प्रसन्न-वदन देखना चाह रहा था; पर उसका यह प्रयास और यह इच्छा बिल्कुल विफल हो रही थी। अब उसने देख पाई भाभी की सचमुच की खिलती हुई यह मूर्ति। उसे बड़ा आह्लादकार विस्मय हुआ। वह आ खड़ा हो गया, आगे बढ़ आया, ज़ोर से बोला, "भाभी !"

भाभी तनिक ठिठक गई थीं, और ठिठक के बाद अब आगे बढ़ जाना चाहती थीं। तभी उन्होंने जोर से कहा गया यह सम्बोधन सुना—"भाभी !" वह ठहर गई।

कमरे की देहली पर हाथ से चौखट पकड़े घूँघट-वाली भाभी के सामने वह दोबारा इतना ही—"भाभी !" कह सका और रुककर खड़ा हो गया।

धीरे-से भाभी ने कहा, "माँ जी से तुमने क्यों कहा ? कोई जरूरत थी ?"

भाभी की वाणी सुनकर आत्म-अभियोग की उसकी ग्लानि विषम नहीं रह गई। उस वाणी में अभियोग लगाने जैसी ध्वनि नहीं थी। त्रस्त दावेदार बनकर उसे अभियुक्त बनाने वह नहीं आई हैं। विनय ने कहा, "मुझे इसी बात का बड़ा सोच हो रहा है।"

भाभी ने कहा, "मैंने तस्वीर ली भी है, तो उनसे कहने से क्या बनता है ?"

विनय, "तस्वीर तुमने ली है ?"

भाभी, "क्यों नहीं ले लूँगी, जब चोरी करके तुम मेरी तस्वीर बनाते हो ?"

ओहो, यह बात है। ऐसी बात वह जानता, तो क्या कभी किसी से कहता। ऐसी बात की खुशी में, किसी से कहकर, भला वह अपने फिजूल साझी बनाने बैठता। ऐसी बढ़िया चोरी की बात को तो वह अपने मन में ही दुबकाये रखता। बोला, "तो तुमने मुझे बताया क्यों नहीं ?"

भाभी, "हल्ला मचाकर तुमने जान तो लिया।....लेकिन य' ठीक नहीं है।"

क्या ठीक नहीं है, सो वह कुछ भी न समझ सका। तस्वीर ठीक नहीं है कि तस्वीर का बनना ठीक नहीं है, या एकदम से वह खुद ही ठीक नहीं है। वह चुपचाप खड़ा रहा। शायद उसे बताया जायगा कि क्या बात ठीक नहीं है।

भाभी ने तस्वीर निकालकर देते हुए कहा, "लो।" और वह जाने को तैयार हो गईं।

विनय ने कहा, "तो ठीक क्या नहीं है ?"

भाभी ने तनिक ठहरकर कहा, "मेरी तस्वीरें मत बनाया करो।"

विनय ने पूछा, "क्यों ?"

भाभी ने कहा, "मैं ऐसी मोटी-मोटी हूँ ?

विनय ने कहा, "अभी तस्वीर पूरी थोड़े ही हुई है। और तुम दुबली भी नहीं हो।"

भाभी, "नहीं, तुम तस्वीरें मेरी मत बनाया करो।"

विनय ने हँसकर कहा, "अच्छी बात है।"

और भाभी चली गईं।

: ५ :

इस तस्वीर-वाली बात का आदि लेकर और-और छोटी-मोटी बातें घटने लगीं जिन्होंने इन दोनों के बीच की दूरी को उड़ा दिया। भाभी को कोई देवर प्राप्त नहीं था और देवर स्त्री के जीवन में आवश्यक वस्तु है। एक देवर चाहिए, जिसको अवसर बनाकर, हँसी-खेल-कूद और प्रमोद-विनोद की स्त्री की चपल-सुलभ आमोदात्मक वृत्तियाँ खिल-खुलकर, तृप्ति लाभ करें। पति के साथ स्त्री एक उत्तरदायिनी, भारवाहिनी, कर्त्तव्य और अधिकारों की झंझटों के बीच प्रतिष्ठित, धीर, गम्भीर गृहस्थिन है। जीवन का निर्द्वन्द्व आमोदमय अंश पति के साथ पूर्ण आत्मलाभ नहीं पाता; इसलिए भारतीय गार्हस्थ्य में देवर का एक विशिष्ट स्थान बन गया है। वह स्थान अपना अलग है। उसके बिना स्त्री के जीवन में एक अभाव विद्यमान रहता ही है।

भाभी के मानसिक विश्व में खाली पड़े देवर के स्थान में

धीरे-धीरे विनय का प्रवेश हो चला। उसको पाकर भाभी सब झंझटें भूलकर, कभी-कभी बिल्कुल बच्चा बन जाती है; बच्चा, जो निर्द्वन्द्व है, जो बस खेलता-हँसता है, रूठता और मनता है; जिसका रोना भी हँसने का एक प्रकार होता है, और जिसका रूठना मनने के लिए होता है; जो शुद्ध तत्काल में वास करता है; जो मुक्त जीव की पूर्ण-से-पूर्ण प्रतिकृति है। ऐसा मौका जीवन में उन्होंने पाया है; जिसके लिए न जाने क्या भीतर से कब का अकुलाया बैठा था।

लेकिन अभी घूँघट बीच में अटल रूप से वर्तमान है।

जब भाभी को उसने तस्वीर न बनाने का वाचिक आश्वासन दिया था, तभी उसने एक बहुत स्थूलकायिक भाभी का बड़ा चित्र तैयार करने का मनसूबा बाँध लिया था। अगले रोज़ से ही वह उसकी 'रफ़' रूप-रेखा बनाने में लग गया। दफ़्तर जाने से पहले-पहले उसे ख़त्म कर लिया और उसी किताब में उसी स्थान पर रख कर चला गया।

जब बड़ी शीघ्रता से बात मानकर विनय ने कह दिया कि वह तस्वीर नहीं खींचेगा, तब क्या भाभी को पूरा चैन हो गया था। या कोई कह सकता है कि वह वैसा चैन चाहती ही थीं। 'देखें वह खींचते हैं या नहीं; खींचते हैं तो कैसी खींचते हैं?'—उस समय के बाद कुछ ऐसे भाव से वह आतुर रहने लगीं और मौका पाते ही अगले दिन विनय के कमरे में जा पहुँची। वहाँ मिल गया उन्हें वही 'रफ' चित्र—एक पर्याप्त से अधिक स्थूल महिला एक दूर खड़े बच्चे को जो उन्हें चिढ़ा रहा है, कुछ हँसी में और कुछ क्रोध में, मारने को दौड़ जाना चाहती है; इस आयास में कमर कुछ-कुछ झुक गई है घुटने बल खा गये हैं; एक हाथ ज़रा

आगे को एक थोड़ा पीछे को पड़ गया है; सब मिलाकर विलक्षण-सा हुलिया हो गया है। इसमें भूल नहीं हो सकती कि यह तस्वीर भाभी की है, यद्यपि अत्यन्त असमान और अतिरंजित है।

भाभी ने चाहा हँसना, पर आया गुस्सा। यह आदमी ऐसी बात करेगा? मैं ऐसी हूँ? मैं नहीं...

और लाल पेन्सिल लेकर जोर से गाड़ कर उस तस्वीर पर इस कोने से उस कोने तक एक लकीर खींच दी, फिर दूर से चौथे कोने को मिलाती हुई एक और लकीर खींची। फिर बीचों-बीच के काट के विन्दु पर चौड़ाई-नुमा एक खींची। फिर लम्बाई-नुमा। फिर इस विन्दु को उससे मिलाया, उसको इससे। इस तरह एक घना लकीरों का जाल-सा उस पर खींचकर, जहाँ तस्वीर का मुँह था वहाँ, वृत्ताकार पेन्सिल को जल्दी-जल्दी बार-बार घुमाया। यह सब काम करने के बाद उसे वहीं रख दिया और चली आई।

आकर देखा विनय ने। उसने उसे कागज़ की तहों में लपेटा, उसके ऊपर एक रेशमी रूमाल निकाल कर लपेटा, और जहाँ अपनी कीमती चीज़ें रखता था, वहाँ बड़ी सुरक्षा के साथ रख दिया।

शाम को भाभी ने दो बात करने का अवसर निकाल लिया। कहा, "मैंने कहा था, मेरी तस्वीर मत बनाना। फिर क्यों बनाई, और ऐसी खराब?"

विनय ने कहा, "तुमने ठीक ही किया जो उसे बिगाड़ दिया। मैंने उसे अब फाड़कर फेंक दिया है।

भाभी, "मैं कोई ऐसी हूँगी जैसी तुमने बनाया? ऐसी होगी, तुम्हारी बहू। मैं तो बच्चों को नहीं मारती। वही आकर मारा करेगी और उस तरह से दौड़ा करेगी।"

विनय, "मेरी बहू ? मेरी बहू ऐसी हो तो फिर क्या कहना है। पर, बहू मेरे भाग्य में नहीं।"

भाभी, "ऐसा नहीं कहा करते। राम करे, तुम्हारी बहू जल्दी आवे और इससे भी मोटी आवे।"

विनय, "बहू आयेगी तो तुम उसे थोड़े ही देख सकोगी। तुम मुझ से घूँघट करती हो, मैं कह दूँगा, वह तुम से घूँघट करेगी। जिसे मैं नहीं देख सकता वह मेरी बहू को नहीं देख सकता।"

भाभी इस बात पर घूँघट में से ही ऐसी हँसीं कि विनय धन्य हो गया। बोली, "कोई वह तुम्हारी ही बहू होगी, मेरी कुछ भी न होगी ?"

विनय ने कहा, "कुछ भी कैसे होगी ? घूँघट खोल दोगी तो चाहे सब-कुछ बना लेना।"

भाभी, "मैं कोई आपसे घूँघट थोड़े ही करती हूँ। घर का यही शील है, करना पड़ता ही है।"

विनय, "तो मैं कब कहता हूँ नहीं। मैं तो यही कहता हूँ कि तुम मुझ से करोगी, और मेरी बहू तुम से करेगी।"

भाभी, "मैं भी देखती हूँ, कैसे करती है।"

विनय, "मैं भी देखता हूँ, तुम कैसे नहीं करने देती हो।"

भाभी, "अच्छी बात है।"

विनय, "अच्छी बात है।"

भाभी, "यही सही।"

विनय, "सही क्या। तुम बहुत करोगी तो मैं हाथ से तुम्हारा घूँघट ऐसा उठा दूँगा कि तुम देखती ही रह जाओगी।"

भाभी इस उद्धत व्यक्ति की दुस्साहसिक बात पर मुस्कराती हुई लौट-कर चली गईं।

: ६ :

इस तरह चार साल निकल गये । विनय बाईस-तेईस साल का होगा । रामू बढ़कर पूरा बाबू रामप्रसाद हो गया है, १३ साल से कम नहीं है और दुनिया में किसी से कम नहीं है । ऐसी बात करता है चटाचट, कि खूब । अम्माजी को और भाभीजी को बड़ी-बड़ी बातें बताता है और खूब शिक्षाएँ देता है । आठवें दर्जे में एक पढ़ाई की किताब है, उसमें बड़ी-बड़ी बातें लिख रखी हैं । उनका हिन्दी अनुवाद कण्ठगत करके ऐसे मौकों पर माँजी को सुनाता है कि माँजी दंग रह जाती हैं ।

और पद्मा का रंग खूब निखर आया है । वह एकदम से खूब सुन्दर लगने लग गई है । अब बड़ी साफ़ रहती है, तुतला-कर ज़रा भी नहीं बोलती, हरदम चोटी काढ़े रहती, यहाँ-वहाँ मिट्टी में नहीं खेलती, बड़ी प्यारी लगती है ।

और इस घराने में कोई विशेष बात नहीं हुई है । कोई और बालक नहीं जन्मा है, न कोई प्राणी कम हुआ है ।

इसे हम उल्लेखनीय बात नहीं कहते कि विनय इस घर का अब अंश जैसा हो गया है । सब से खुलकर हँसता-बोलता है, मिलता-जुलता है । कुटुम्ब के दुःख-सुख का शरीक है । यह सब कुछ तो चार वर्ष के सहजीवी जीवन से हो ही जाना था । लेकिन जो नहीं होना था, वह नहीं हुआ । अर्थात् घूँघट नहीं उठा ।

वह भाभी से कई वार कह चुका है कि भाभी अगर समझें कि उसने उनको नहीं देख लिया है, सो गलत है । वह सब जानता है, कैसी हैं, कैसी नहीं; कोई बहुत सुन्दर तो हैं नहीं । फिर भी बहुत बड़ा घूँघट आगे रखकर अपनी दृष्टि का अवरोध करना चाहतीं हैं, तो उनकी मर्ज़ी ।

भाभी यह सुनकर, मन में हँसकर, घूँघट थोड़ा आगे और सरका लेती हैं।

क्या हम कहें कि इस पर्दे ने इन दोनों में एक दूसरे के प्रति निकट आने की इच्छा को, एक दूसरे से परिचित हो जाने के लोभ को, बढ़ाने और कायम रखने में विशेष सहायता पहुँचाई ?

विनय ने अपनी निधि में दो एक वस्तु और संग्रह-कर वृद्धि कर ली है। एक पीले काग़ज़ का टुकड़ा है, जिसमें इस विनय को लक्ष्य करके लिखा गया है कि "वह बड़ा शैतान है। हमें बड़ा दिक करता है। हमें यह अच्छा नहीं लगता।..." एक रूमाल चोरी करके छिपाकर रख लिया गया है। एक दफे होली के दिन भाभी ने एक फूल दिया था। वह ऐसा था कि उसे छुओ तो एकदम से हाथ में बहुत-से काँटे चुभ जायँ। देखने में वह बड़ा लुभावना था। उसे भी खूब सँभाल-कर अपने कोश में बन्द करके रख लिया है।

भाभी व्याह की बात को लेकर उसे अब बड़ा चिढ़ाती हैं। क्योंकि उसका व्याह अब होने वाला है। पहले जैसे विनय बहू की बात पर मुँहफट होकर भाभी के साथ बहुत सवाल-जबाब कर लिया करता था, अब नहीं कर पाता। अब जल्दी झेंप जाता है। क्योंकि व्याह सिर्फ़ बातचीत की बात नहीं रह गया है; वह सचमुच कुछ ही दिनों में सम्पन्न हो जाने वाला है और सच बात के बारे में बहुत मुखर नहीं हुआ जाता।

सोचता है, बहू बनकर जो अबोधा आएगी उसे इन भाभी को सौंपकर कह देगा, "यह तुम्हारी है। इसे अब बनाओ। इसे अपनी जैसी अपनी छोटी बहन बना लो।" उसके जरिये भाभी के मन

के वह और निकट पहुँच जायगा, और उनकी सेवा का मौक़ा निकाल लेगा।

भाभी के दिल में क्या कम उछाह है? इस विनय की बहू आएगी, उसे बड़ी आव-भगत के साथ अपने हृदय के पास बिठा लेंगी, और लाड़ लड़ाएँगी। और उसे छेड़ा करेंगी भी खूब। उसे यों सजाएँगी कि विनय ने भी क्या देखा होगा। सजाकर फिर विनय के कमरे में मूँद आएँगी।—क्या कवि बनते फिरते हैं। सब ठीक हो जाएँगे। नोन-तेल में फँसे दीखेंगे।...फिर भाभी को भूल जाएँगे।...ऐसे जितने होते हैं, पहले बड़े निर्लिप्त बनते हैं, पीछे बीवी के ग़ुलाम ही हो जाते हैं। सो ही इनका हाल होगा। फिर कहाँ भाभी, कौन भाभी।...

यह सब सोचकर उन्हें कसकता-सा सुख होता है। जो ज़रा-ज़रा लगता तो है, पर मज़ेदार भी बड़ा है।

लेकिन विधि किस-किस के जी की रक्षा करके आगे चलेगी? भाभी के जी-की-जी में रह गई। कठिन रोग-ग्रस्त होकर उन्हें पहाड़ जाना पड़ा। इसी बीच विनय का ब्याह हो गया।

बहू आई बड़ी सुन्दर, हँसमुख, कुछ पढ़ी-लिखी भी। मङ्गल-गान हो रहे हैं, बधाइयाँ गाई जा रही हैं। लेकिन इनसे क्या हो, भाभी तो घर हैं नहीं। विनय का मन खोखला हो रहा है।

विनय की बहुरिया को देखने की उत्सुकता में, जिसके बारे में उन्होंने सुन लिया है, बड़ी अच्छी है, बड़ी जल्दी सफ़र के लायक स्वास्थ्य-लाभ उन्होंने कर लिया, और घर आकर ही मानीं।

पलङ्ग पर लेटी हैं। जैसे शुभ्र-सिकता-विस्तार में शीर्ण-कटि सरिता सोती पड़ी हो।

विनय आकर चुपचाप पलङ्ग की पटिया पर हाथ रखकर धरती

पर बैठ गया। माँजी पास ही बैठी थीं, पहले जाकर उनका आज चरण-स्पर्श नहीं किया बैठते-बैठते ही उन्हें प्रणाम कर लिया।

भाभी के मुँह पर हलका कपड़ा पड़ा था।

विनय ने कहा, "भाभी !...कैसी हो ?"

भाभी ने आँख खोली, और सिर का कपड़ा तनिक ठीक कर लिया।

इतने में मन्थर गति से ठिठकती हुई विनय की बहू आई।

विनय ने कहा, "भाभी, देखो कौन आ रही है।"

भाभी क्षीण मुस्कराट से हँसी और उठ बैठने की चेष्टा करने लगी।

लगभग साथ ही—

माँजी बोली, "लेटी रह, लेटी रह।"

विनय बोला, "हें हें, उठो मत !"

बहू दर्वाजे से लगकर ही खड़ी रही। आगे नहीं आ सकी।

माँजी ने कहा, "आजा, बेटी।"

भाभी ने मन्द स्वर में कहा, "आओ।"

विनय ने कहा, "यह भाभी हैं। इनके पैर छुओ।"

बहू पैर-छूना-जैसा करके पलङ्ग के पाँयते, सकुची हुई बैठ गई।

तभी नौकरनी ने आवाज़ दी, "माँजी !"

विनय ने कहा, "तुम कब से बैठी होगी, माँजी, अब जा सकती हो।"

माँजी ने कहा, "अभी आती हूँ।" बाहर छज्जे पर से झांककर नौकरनी से पूछा, "क्या है ?"

नौकरनी ने जल्दी-जल्दी जीभ की कैंची चलाकर कितनी ही

बातें एक मिनट में कतर डालीं। माँजी की समझ में उनका चौथाई भी नहीं आया। इसी तरह इस दासी की और बड़-बड़ न जारी रहे, इसलिए झल्लाती हुई माँजी स्वयं नीचे चली गईं।

भाभी ने पाँयते बैठी हुई पर्दावेष्टित बहू को इशारा किया कि उसे ऊपर पलङ्ग पर ही भाभी के पास आ बैठना चाहिए; और विनय की ओर संकेत किया कि उन्हें और काम हो तो इस समय कर सकते हैं।

विनय ने कहा, "तुम इनसे बिलकुल नहीं बोल सकती हो, जब तक मैं तुम से नहीं बोल लूँगा। मैं तुम्हें देख लूँगा, तब तुम इन्हें देख पाओगी।"

इतना कहकर पलङ्ग पर पड़े हुए भाभी के बाएँ हाथ को विनय ने पकड़ लिया। वह हाथ विनय की पकड़ में ज्यों-का-त्यों टिका रहा।

भाभी ने कहा, "मुझे उठा दो।"

विनय ने कह दिया कि उन्हें उठने का खयाल नहीं करना चाहिए।बिलकुल आराम से लेटे रहना चाहिए। यह भी औषधि का अंश है।

भाभी ने विनय को अपनी क़सम दिलाई।

लाचार सहारा देकर उन्हें उठाकर तकियों का सहारा लगाकर बैठा दिया।

भाभी ने तनिक झुककर बहू की बाँह पकड़कर उसे उठाने की चेष्टा की। इसे आज्ञा समझकर बहू स्वयं उठकर पलङ्ग पर आ बैठी।

उसे गोदी में समेट लेने की चेष्टा-सी करते हुए, बहू के घूँघट

में अपना घूँघट डालकर भाभी ने उसे देखा। देखती रही; फिर झट बहू का चुम्बन ले लिया।

विनय ने कृतार्थ भाव से यह सब देखा।

उन दोनों के अलग होजाने पर विनय ने कहा, "भाभी को लेट जाने दो।"

कहने के साथ ही, बिना कुछ प्रतीक्षा किये, उन्हें उसी तरह सहारे से लिटा दिया। मुँह उनका अपनी तरफ़ रखा।

विनय ने कहा,—"भाभी !"

भाभी ने कहा, "इन्हें छोड़ जाओ। तुम जाओ।"

विनय ने उत्तर में कहा, "अच्छा।" और बहुत धीरे से दोनों हाथों से घूँघट को उठाकर पीछे को पलट दिया।

भाभी ने कुछ विरोध किया, ऐसा नहीं जान पड़ा। घूँघट में से उनका हँसता हुआ क्षीण-शीर्ण मुख मानो आशीर्वाद देता हुआ प्रकट हो गया।

विनय ने कहा, "भाभी, नाराज तो नहीं हुईं ?"

भाभी केवल हँसती रहीं।

: ७ :

विनय ने पत्नी से कह दिया, "देखो, मेरी माँ के बाद दूसरी तुम्हारे लिए बड़ी यह भाभी हैं। इनसे तुम हँस-खुश भी सकती हो, और इनसे सीख भी बहुत-सी सीख सकती हो। इनसे जितनी अभिन्न होकर चलोगी उतना ही जीवन में तुम्हारे मिठास आ जायगा।"

लेकिन यह सब-कुछ पत्नी को कहने-सुनने की जरूरत थी, ऐसा नहीं जान पड़ा। पत्नी ने तो आते ही देख लिया कि भाभी

जैसी प्रेम से अपना लेने-वाली हैं, वैसी और कोई नहीं हैं। और उनके अपनाने में बड़प्पन का भाव बिलकुल नहीं है। उनसे मिलकर न रहा जायगा, तो फिर किससे रहा जायगा। वह आते ही अनायास बिलकुल भाभी की बन रही।

यह नई बहू भाभी के कारण खुद खुश रहती है और भाभी के भी खुश रहने का कारण बन गई है। बहुत-कुछ इस वजह से, कुछ कहना चाहिए विनय की संलग्न परिचर्या के कारण, कुछ और वजहों से जिनमें शायद डाक्टर की दवाई भी एक हो सकती है, भाभी चङ्गी हो गईं।

उस समय के बाद इन दोनों बहुओं की चहचहाट, ऊधम-दङ्गा और हँसी का क़हक़हा समय-बे-समय सुनाई देने लगा। भाभी सारे तन-बदन से ऐसी उन्मुक्त हँसी हँसती कि उसकी लहर, लहराती-लहराती, सारे मकान में गूँज जातीं। जब यह विनय के कानों में पहुँचती, तो वह धन्य हो जाता, इस खुशी की फ़ुहार में मानो नहा जाता। और बहू भी किसी तरह से कमज़ोर की हँसी न हँसतीं। घर सदा हँसता रहता।

ये दोनों खेलते ही थे, विनय भी वक्त निकालकर इनमें शामिल हो जाता था। माँ दोनों इस बात से बड़ी खुश थीं।

अब विनय को बड़ा अचरज था कि यह भाभी उससे कभी कैसे परदा कर पाती थीं। विनय गिना-गिनाकर और वक्त-पते की बात बताकर भाभी को सुनाता था कि कैसे वह भाभी को लुके-छिपे देख लिया करता था। एक दफ़े बाल सुखाने धूप में बैठी थीं, तुम्हें पता भी न था कि मैं छत पर धूप में बैठा अख़बार पढ़ रहा हूँ। बाल तुम्हारे पीठ पर फैले थे; कुछ मुँह के आगे आ रहे थे। तब मैंने खूब अच्छी तरह तुम्हें देख लिया था। लेकिन जी भरकर एक ही बार देखा, फिर ख्याल आ गया, फिर नहीं देखा।

भाभी जी यह सुनकर कहतीं, "तुम बड़े वैसे थे। मुझे क्या पता था, तुममें यह गुन भी थे। फिर वैसे ही देख लिया था, तो पर्दा क्यों खुलवाया ? मैं जानती तो कभी न खोलती।"

विनय कहता, "अब फिर कर लो। अब क्या बिगड़ गया है ?"

भाभी खिलखिलाकर हँस पड़तीं, कहतीं "कर ही लूँगी। नहीं करूँगी तो गुजारा कैसे होगा।"

ऐसे समय कभी विनय की पत्नी होती थी तो वह, नहीं तो विनय स्वयं, भाभी की धोती के सिर के पल्ले को मुँह के आगे तक खींच देता। कहता, "लो, अब तो हो गया।"

भाभी कहतीं, "हो गया तो बस। अब मुझसे मत बोलना।"

इतना कहकर वहू बनकर मुँह फेरकर बैठ जातीं।

जिसने पर्दा किया था उसी को लाचार फिर घूँघट को हाथ से उठाकर ऊपर को सरका देना पड़ता। भाभी फिर सीधी होकर बैठ जातीं, कहतीं, "बस, चैन नहीं पड़ा। अब अपने आप क्यों उठाया ?"

इस तरह के अभिनय आये-दिन होते रहते, और घर को स्वर्ग बनाये रखते। अलग रहते किसी को चैन न था, मिल बैठते, उधम-मस्ती शुरू हो जाती, तब उन लोगों के जी में जी आता।

यह नहीं कि खटपट नहीं हो जाती थी। बासन न खटकें तो बासन कैसे ? यह भी तो होता रहना चाहिए। पर खटपट से मिलन का मिठास और गहरा हो जाता था। एक रूठे नहीं तो दूसरे को मनाने का मौका कैसे हाथ आये। और दो रोज़ अलग-अलग होकर दोनों के मुँह न फूले रहें, तो तीसरे रोज साथ बैठकर दोनों आँसू कैसे बरसा पायें। इसी तरह के आवर्तन-प्रत्यावर्तन का नाम जीवन है। नहीं तो जहाँ गुदगुदी रेतीली समतल धरती

ही है, लोग उस रेगिस्तान को ही क्यों न पसन्द करें; क्यों घास-पात से मैली-कुचीली धरती में, और हल चलाकर उसे ऊबड़-खाबड़ करके, अन्न का बीज छोड़ें ?

इन लोगों का क्या हरियाला जीवन है ! कैसा चुहल से भरा है ! कहीं मैला बादल नहीं है। चारों ओर भविष्य में जहाँ तक निगाह जाती है, हरियाली-ही-हरियाली है।

: ८ :

इच्छा होती है कि यहीं हमारी कहानी सम्पूर्ण हो जाती। कहानी का रस, कहानी का प्राण जहाँ खिल उठा है, वहीं हमारी कहानी का कलेवर भी नष्ट हो जाता, आयु व्यतीत हो जाती। कैसा दुःख है कि दुनिया में पुण्य क्षय हो जाने पर, रस चुक जाने पर भी लोगों को अपना जीवन ढोना पड़ता है। विधाता के, ऐसे विधाता के बेचारा कहानी-लेखक भी अधीन है।

हमारी कहानी मौत की कहानी नहीं है। क्या मौत के बिना कहानी हो सकती है ? मौत को विधाता ने बहुत महँगा नहीं बनाया है। कहानी-लेखक भी इसको मँहगी नहीं बनाता।

लेकिन हालत होती है, जब मौत भी मँहगी होती है। जब मौत से भारी चीज़ दिल में बैठ जाती है; और उसको दिल में लिये-लिये फिर कर आदमी को जीता रहना पड़ता है।

मैं कह चुका हूँ, उस घर में कभी-कभी रगड़ हो जाया करती थी। लोग जब बहुत निकट होकर मिलते हैं, तब उनकी स्वभाव-विषमताएँ एक-दूसरे को स्पर्श करती हैं। उस समय तो उन्हें एक प्रकार का स्पर्श-सुख होता है, जैसे फोड़े को हलके-हलके छूने में। जब और पास आते हैं तब स्वभाव की उभरी हुई विषमताएँ टक-

राती हैं। उस समय दाँतेदार पहियों की भाँति एक-दूसरे को निभाकर, रल-मिलकर, एक-दूसरे पर निर्भर रहकर चलने लायक़ अन्तर-सम्मिलन (Adjustment) उनमें किसी तरह नहीं हो जाय, तो बड़ी गड़बड़ होती है। वे मानों एक दूसरे को काटने दौड़ती हैं, आपस में टकराकर एक-दूसरे को नष्ट करने की प्रवृत्ति होती है; टक्कर में चिनगारियाँ निकलती हैं। ऐसे समय यदि मनुष्य की रीढ़ (Axle) अत्यन्त दृढ़ हो, तो वह इन टक्करों से डरकर पीछे नहीं हट जायगा; अर्थात् शत्रुता पैदा करके या और कारण से अपनी निकटता में विच्छेद नहीं डालेगा; बल्कि बहुत धीरज से काम लेगा। अन्त में ऐसा समय आयगा कि या तो वे विषमताएँ मिल (Adjust) बैठेंगी, या रगड़ते-रगड़ते बिल्कुल नष्ट हो जाएँगी और भीतर से सहज समान मनुष्यता प्रकट हो जायगी। लेकिन ऐसा होता नहीं है। जब ऐसा भीषण समय उपस्थित होता है तब संघर्ष से घबड़ा-कर मैत्री और प्रेम का सम्बन्ध ही लोग एक दूसरे से तोड़ लेते हैं, डटे नहीं रहते।

विनय एक दिन आता है तो देखता है, मकान जैसे सन्नाटा खींच रहा है। लोगों के चेहरे भारी-भारी हो रहे हैं। बच्चे खेल नहीं रहे हैं। सब सुन्न हालत में हो रहा है।

उसे मालूस हुआ कि आध घण्टा हुआ घोर वाग्युद्ध मच-कर चुका है। उसे और मालूम हुआ कि उसके आरम्भ से ही भाभी मूर्छा में पड़ी हैं।

ऐसी क्या बात हो गई ? क्या हुआ ?

इसका कारण उसने जाना तो काठमारा रह गया। नीचे से धरती खिसक गई।

विनय की पत्नी ने अपने इस विश्वास को दो-एक से प्रकट

किया है कि उसके पति की नज़र ठीक नहीं है और भाभी भी...

इसी बात को लेकर माँजी ने घोर आपत्ति की है और विपुल कोलाहल मचाया है।

विनय की माँ ने भी उसके उत्तर में कराल तडिद्-गर्जन किया है।

इस तर्जन-गर्जन में अनुसन्धान करने की आवश्यकता का किसी पक्ष को ध्यान नहीं रह सका है।

मूर्छा की बात जानकर उसने भाभी के पास दौड़ जाने का इरादा किया था। लेकिन अब अपने इस काले मुँह को लेकर क्या वह बाहर निकल सकेगा? वह अपने को कोठरी में अच्छी तरह से बन्द कर बैठ रहा।

रोया तो, पर रोने से क्या आता है। और पत्नी पर रोष करने से भी क्या हाथ आता है?

उसने अपने को पत्नी की हालत में डालकर सोचा कि क्या वह अपने सम्पूर्ण जीवन में पत्नी के ध्यान को ऐसा रमा-कर बैठ सका है कि सब-कुछ, और सब कोई, वहाँ से मिट जाय। वैवाहिक प्रेम का ऐसा ही विदेही आदर्श उसने अपनी कल्पना में माना है। उस आदर्श के नीचे बैठकर, आज की घटना पर वह खूब रोया; रोष तनिक भी किसी पर नहीं कर सका। अपने हीन जीवन को भाभी की दृष्टि से कहीं दूर ले जाकर ओझल बना लेगा। उसकी हीनता की कालिख की छाया भाभी के पास नहीं पहुँचने पावेगी।

वह अब भाभी की पदध्वनि से डरने लगा। कहीं उनके आने की सम्भावना होती, तो रास्ते से छिटक कर दूर भाग जाता। दुर्भाग्य से कभी सामने पड़ ही जाता, तो गड़कर नीचा सिर करके

ऐसा खड़ा हो जाता कि यहीं गड़ा ठूँठ हो। एकाध बार चारों ओर से कमरे को बन्द करके खिड़की में से भाभी आती हों, तो देखने के लिए इन्तज़ार किया है। पर उनके उधर से आने की आहट मिली कि साहस चुक जाता है, और वह मुँह छिपाकर नीचे को बैठ जाता है।

उसी रोज़ से वह दूसरा मकान देख लेने के यत्न में है। पर शहर में मकान यों ही नहीं रक्खे होते।

अब कभी-कभी भाभी की हँसी उस तक पहुँचती है, तो वह निमग्न होकर कानों की राह अमृत की तरह उसे पीता रहता है। अब कब उसे यह वस्तु मिलेगी? और नहीं मिलेगी, जो साथ ले चलेगा, वही ले चलेगा। मानों इस भाव से वह भाभी की भूली-भटकी वाणी और भाभी की हँसी को अपने भीतर संग्रह करता है।

उसने एक बार भाभी को अब भी बड़ी हिम्मत करके देख लिया है। ज़रा-ज़रा देखा है। वह रूप हृत्पट पर, कैमरे के प्लेट की भाँति अंकित हो गया। वह वैसा ही सदा की भाँति निर्विकार मुख है। मानों कोई हरी-सी वस्तु उठी थी, वह घनी हुई तो किसी ने उसे काला बना दिया; ख़ैर लेकिन अब वह उनके आकाश में धुल-धुलाकर साफ़ हो गई है। कोई निशान नहीं छोड़ गई।

क्या विनय की यह धारणा मधुर है? सत्य है?

क्या सच वह वस्तु भाभी के अन्तर में कोई अभाव, कोई दाग़, दर्द की कोई ज़रा-सी जगह बनाकर नहीं छोड़ सकी, जहाँ कभी-कभी स्मृति भटकती-भटकती आ टकरे, और वहाँ थोड़ी विचरने लग जाय?

: ६ :

विनय ने दूसरा मकान किराये ले लिया। यहाँ चित्र बनाने में उसका अधिक समय जाने लगा। सौभाग्य कि एक धनी पड़ोसी का ध्यान उन चित्रों की ओर गया। उसने उन्हें बहुत सराहा। वह पसन्द का आदमी था। चित्रों का आशातीत मूल्य विनय को मिलने लगा। दुनिया की आँखों में अब वह और हो गया। प्रसिद्ध हो गया है, पैसेवाला गिना जाता है। पैसेवाला है, इस में सन्देह नहीं; लेकिन पैसेवाला-सा दीखता नहीं है। सब-कुछ उसने जमा कर छोड़ा है, समझता है वह मेरा नहीं है। फिर किस का है? कहता है, एक का है। हम उसके मनकी बात बता दें, तो वह उस सब को भाभी का मानता है। चित्रों का सब धन भाभी का है। भाभी के बिना वह चित्रकार हो सकता था, यह अकल्पनीय है।

एक दिन उसने अख़बार में देखा एक रामप्रसाद बी० ए० में पास हुआ है। उसने शहर में बहुत बड़ी पार्टी की। रामप्रसाद भी उसमें आया। पार्टी के बाद रामूने कहा, "अम्माजी की तो आपको ख़बर होगी?"

विनय ने कहा, "क्या?"

रामू ने कहा, "उनका तो पिछले महीने ही स्वर्गवास हो गया। भाभी भी तबसे ऐसी रहती हैं।"

विनय ने कहा, "अच्छा...?"

रामू ने कहा, "मुझे नहीं मालूम था कि आप ही...चित्रकार हैं। नहीं तो मैं बुला ले जाता...।"

विनय ने कहा, "हाँ..."

रामू ने कहा, "चलिएगा?"

विनय ने पूँछा, "कहाँ?"

रामू, "भाभी के पास नहीं चलिएगा ?"

विनय, "हाँ..."

रामू, "अभी तो आप को फुर्सत नहीं होगी। आप कहें, तो मैं परसों आऊँ ?"

विनय, "पद्मा कैसी है ?"

रामू, "उसकी शादी हो गई है।"

विनय, "परसों तुम आओगे ? तो कल भी आना, कल फिर पार्टी है, ज़रूर आना। फिर परसों चलेंगे।"

रामू, "ज़रूर चलिएगा।"

विनय, "कल ज़रूर आना।"

अगले रोज़ फिर पार्टी हुई। रामू ध्यान रख कर शरीक हुआ।

लेकिन परसों जब वह आया, तो विनय बाबू थे नहीं। जाने कहाँ चले गये थे। चपरासी ने एक लिफ़ाफ़ा उसे दिया, जिसमें उसके नामका ५०,०००) रुपये का ड्राफ्ट था।

वह निराश होकर लौट आया। और भाभी के सामने विनय की जगह उसका दिया ५०,०००) का कागज़ का टुकड़ा लाकर रख सका। भाभी ने उसे लिया और तकिये के नीचे रख लिया।